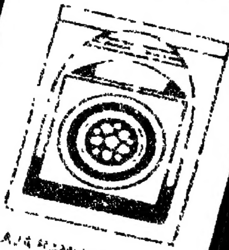
मेरी श्रेष्ठ व्यंग्य रचना

प्रेम जनमेजय



मेरी श्रेष्ठ व्यंग्य रचना



मेरी श्रेष्ठ व्यंग्य रचना

संपादक
प्रेम जनमेजय

भावना प्रकाशन, दिल्ली-110091

प्रकाशक : भावना प्रकाशन,
109-ए, पटपड़गंज, दिल्ली-110091
दूरभाष : 22722155
प्रथम प्रकाश : सन् 1965
आवरण : राजकमल
शब्द संयोजक : पंकज ग्राफिक्स, दिल्ली-110092
मुद्रक : राधा ऑफसेट, दिलशाद गार्डन, दिल्ली।

Meri Shreshth Vyangya Rachna

Ed. by Prem Janmeyjai

संपादकीय

'व्यंग्य यात्रा' के समकालीन परिदृश्य पर आलोचनात्मक सामग्री देने के साथ-साथ मेरा मन था कि सम्प्रति जो साहित्यकार व्यंग्य-लेखन में सक्रिय हैं उनकी रचनाएं भी प्रकाशित की जाएं। किसी नयी रचना की मांग में समय लग सकता था इसलिए मैंने अनुरोध किया— 'व्यंग्य यात्रा' का आगामी अंक 'हिंदी व्यंग्य का समकालीन परिदृश्य' पर केंद्रित होगा। आपसे अनुरोध है कि इस अंक के लिए आप अपनी प्रकाशित/अप्रकाशित श्रेष्ठ गद्य-व्यंग्य रचना का चुनाव स्वयं करें एवं इस टिप्पणी के साथ कि वह रचना आपको क्यों पसंद है, हमें प्रेषित करने का कष्ट करें।' इस अनुरोध का एक और विशेष कारण यह भी था, इसी बहाने व्यंग्य यात्रा के पाठकों को हिंदी व्यंग्य के श्रेष्ठ रचनाकारों से परिचित कराना। मुझे लगा कि लेखकों के लिए यह एक सरल कार्य होगा और सामग्री शीघ्र ही मिल जाएगी। पर जब लौटती डाक तो क्या विलम्बित डाक से भी अपेक्षित उत्तर नहीं आए तो चिंता हुई और इस चिंता में लेखकों के द्वार खटखटाए गए। कुछ ने दरवाजों के झरोखों से झांककर कहा— भई, अब हम क्या अपनी रचना चुनें आप ही चुन लें और लिख दें कि आपने क्यों चुनी।' मुझे लगा कि यह सुझाव भी अच्छा है पर व्यंग्यकार मन ने सतर्क किया कि इस चक्कर में तुम बुरे फंस सकते हो और अंक भी द्रुतविलम्बित हो सकता है। ऐसी स्थिति को संतों ने अपना ढोल दूसरो के गले डालने जैसा भी व्याख्यायित किया है। यह भी होगा कि इस ढोल को तुम बजाओ तो शिकायतें आएं कि किसी के लिए तुमने राग ललित बजा दिया, किसी के लिए राग भैरवी और किसी के लिए राग दरबारी। प्रकाशकों नें 'मेरी श्रेष्ठ रचनाएं' जैसी शृंखलाएं प्रकाशित की हैं जिनमें रचनाकार स्वयं ही अपनी श्रेष्ठ रचनाओं का चुनाव करता है और एक भूमिका भी लिखता है। इसी कारण मुझे विश्वास था कि काम सरल, परंपरागत तथा करनीय है। पर ऐसा न हुआ। पता चला कि श्रेष्ठ रचनाओं का चुनाव करना तो सरल है पर किसी एक श्रेष्ठ रचना का चुनाव करना और उस पर टिप्पणी लिखना कठिन कार्य है। इस कठिन कार्य का अहसास मुझे तब हुआ जब दूसरों के लिए गड्ढा

खोदने वाला मैं इस गड्ढे में पड़ा...सच बहुत कठिन प्रश्न है...लगभग वैसा ही कठिन जैसे कोई किसी नेता, वकील, पुलिसवाले आदि से यह पूछे कि उस दिन का चुनाव करके बताओ जिस दिन भ्रष्टाचार न किया हो। पर सच्चा साहित्यकार तो वही है– जो चुनौतियों को न केवल स्वीकार करे बल्कि उनका सामना भी करे, जो अनुत्तरित प्रश्नों क़े उत्तर खोजे और जो इसके लिए दूसरों को इसकी भावनात्मक चेतना दे। हितचिंतक रचनाकारों ने ऐसा ही किया। हर अच्छे काम में समय लगता है, समय लगा पर अच्छे काम के लिए। लगभग सभी रचनाकारों ने भरपूर सहयोग दिया और जो नहीं दे पाए उन्होंने आश्वासन भी भरपूर दिए।

इस संकलन में उन्हीं रचनाकारों की रचनाएँ हैं जिनका कम से कम एक संकलन प्रकाशित हो गया है और आज भी लिख रहे हैं।

पिछले दस वर्षों में पूंजी के बढ़ते प्रभाव, बाजारवाद, उपभोक्तावाद एवं बहुराष्ट्रीय कम्पनियों के भारतीय परिवेश में चमकदार प्रवेश ने हमारे जीवन, विशेषकर शहरी जीवन को बहुत प्रभावित किया है। शहरीकरण ने जहां एक ओर किसी प्रदेश की मौलिकता का हनन किया है वहीं हमारा पारिवारिक जीवन भी बहुत बदल गया है और बदल रहा है। सभी शहर एक जैसे लगने लगे हैं। दिल्ली की जिन गलियों को शायर छोड़कर नहीं जाना चाहते थे अब वही गलियां, मॉलों की शोभा बढ़ाने के लिए दिल्ली को ही छोड़कर जा रही हैं। शहरों में एम.एन.सी. बच्चों के कारण परिवारों का ही नहीं हमारे आसपास का जीवन भी बदला है। जीवन से मोहल्ला, पड़ोस, रिश्तेदारी समाप्त होती जा रही है, क्योंकि इन सबके लिए समय नहीं है। धीरे-धीरे व्यक्तिवाद हमारे जीवन में पैर पसार रहा है। यह सब पहले भी था और ऐसा हर युग में रहा है, पर अब उसका प्रतिशत बढ़ गया है। इस बदलते जीवन ने हमारे साहित्य के विषय भी बदले हैं।

परसाई जी से एक बातचीत के दौरान चापलूसी के स्वर में जब मैंने हे... हे...की शैली में कहा था-- 'आपने तो सभी विषयों पर इतना लिख दिया है कि हमारे पास लिखने को कुछ बचा ही नहीं है।'

इस पर परसाई जी ने कहा था– 'प्रेम, ऐसा नहीं है। मैंने अपने पिता को नंगा नहीं देखा है तुम्हारी पीढ़ी देख सकती है।'

सच समाज, राजनीति, साहित्य आदि नें जो नंगापन परसाई जी के समय में था, उसमें न केवल वृद्धि हुई है अपितु 'नवीनता' भी आई है। बहुत आवश्यकता है अपने समय के नंगापन को पहचानने और उस पर आक्रमण करने की। बहुत आवश्यकता है, कपड़े पहने हुए अकेले पड़ते लोगों के समर्थन में खड़े होने की जिससे उनको कपड़े पहनने में शर्म न आए।

सभी रचनाकारों का मैं आभारी हूं कि उन्होंने रचनात्मक सहयोग दिया।

मैं विशेष रूप से अपने अग्रज रचनाकार श्रीयुत श्रीलाल शुक्ल का आभारी हूं कि अपनी अस्वस्थता के बावजूद, उन्होंने न केवल अपनी श्रेष्ठ रचना का चुनाव किया अपितु उस पर मन से टिप्पणी भी लिखी। अग्रजों का ऐसा व्यवहार अनुजों को अपेक्षित प्रेरणा प्रदान करता है।

मैं आभारी हूं श्री रामविलास शास्त्री एवं इम्तियाज अहमद आज़ाद का उनके विशिष्ट सहयोग के लिए।

रचनाओं का क्रम रचनाकारों की जन्मतिथि के आधार पर दिया गया है।

मैं विशेष रूप से आभार व्यक्त करना चाहता हूं भावना प्रकाशन, दिल्ली के श्री नीरज का जिनके निरंतर आते फोन मुझे इस संकलन को यथाशीघ्र तैयार करने के लिए प्रेरित करते रहे । मुझे विश्वास है कि यह संकलन हिंदी व्यंग्य के समकालीन परिदृश्य की रचनात्मक एवं सार्थक तस्वीर प्रस्तुत करने में सफल होगा।

—प्रेम जनमेजय

अनुक्रम

संसार चंद्र

यह नयी कविता है

लेखक को अपनी सभी रचनाएं प्रिय होती हैं। फिर कहा कि इस लेख में व्यंग्य भी है और नयी कविता के बारे में जानकारी भी। यह एक शैक्षिक प्रयोग है। हँसी भी है, मंतव्य भी है।

नयी कविता तो दूर, कविता की किसी भी वैरायटी से मेरा कोई सरोकार नहीं। वैसे जहां तक नवीनता का संबंध है, मुझे हर नयी चीज़ पसंद है। बूट से लेकर सूट तक, करेंसी नोटों से लेकर नोटबुक तक, गर्ज़ कि मैं हर नयी चीज़ का दिलदादा हूं। मगर यह नुक़्ता हल नहीं होता कि आख़िर इस नयी कविता के इश्क़ से ही क्यों महरूम रहा हूं। यूं तो मेरी मां प्रायः बताया करती है कि बचपन में मुझे कविता का बेहद शौक़ था। मेरे पिताजी को मुझमें एक अच्छे-ख़ासे शायर के आसार नज़र आते थे। इस संभावना मात्र से ही उन्हें भारी राहत नसीब होती थी क्योंकि वे ख़ुद भी अव्वल दर्ज़े के शायर थे, जिन्होंने बड़े-बड़े दंगल जीते थे, जमे हुए उस्तादों को चारों ख़ाने चित्त किया था। बंदिश में उनका सानी ढूंढना कठिन था। रदीफ़ और क़ाफ़िया इस महारत से तराशते थे कि सुनने वाले दांतों तले जीभ या उंगली काट खाते थे। यह बात अलग थी कि लोग अपनी जीभ या उंगली की सलामती चाहते हुए उनकी नज़्में सुनने से प्रायः कतराया करते थे। ख़ैर, किस्सा मुख़्तसर यह है कि मैं एक ऐसे कविकुल का राजकुमार हूं जो अपनी ख़ानदानी रवायतों के शिव-धनुष को कब का छिन्न-भिन्न कर चुका है। अब तो उनकी स्मृतिमात्र ही अवशेष रह गयी है।

अभी हाल ही की बात है, मैं बैठा स्थानीय दैनिक का संडे संस्करण उलट-पलट रहा था कि अपने छोटे बरख़ुरदार की एक सचित्र और सवक्तव्य कविता पर आंख गड़ी की गड़ी रह गयी। मैंने अंदर आवाज़ लगाई कि 'सुनती हो' तो बरख़ुरदार की मां की बजाय मेरी मां पहुंच गयीं और माजरा सुनकर गद्‌गद हो कहने लगीं– "भगवान का लाख-लाख शुक्र है कि इस दैत्यवंश में एक प्रह्लाद तो आया है। आज इसके दादा होते तो फूले न समाते।" मैंने कहा– "अम्मा! वे होते तो इस ना-अहल की हड्डी-पसली एक कर देते।" इतने में हमारा फरज़ंद भी आ पहुंचा। उसके हाथ में वही संडे संस्करण था। मेरा रुख़ देखकर वह सहम गया। मैंने पूछा कि यह सब क्या है? बोला, 'डैडी यह नयी कविता है।' मुझे ज़ोर का धक्का लगा। काटो तो ख़ून नहीं। कविता का न सिर न पैर, न तुक न ताल, न छंद न बंध, न लय, न स्वर,

न यति न गति। मैंने फिर पूछा, 'बेटे! यह कैसी नयी कविता है?' वह बोला, 'डैडी! यह विद्रोह की कविता है, विद्रोह, सबसे विद्रोह, जो पुराना है, उससे विद्रोह, कविता के लिबास में उसकी पुरानी रूह से विद्रोह, उसके क्राफ्ट और टेक्निक से विद्रोह, उसकी फार्म और स्टाईल से विद्रोह।' मैंने टोका, 'कम्बख़्त, धीरे, बोल! कहीं पुलिस ने सुन लिया तो वामपंथियों के साथ धर लिए ज़ाओगे!' वह हँसकर बोला, 'डैडी! यह अनास्था का युग है, यानी कि टोटल डिसबिलीव का, नॉन-फेथ का। अनास्था पास्ट से, फ्यूचर से, सिर्फ़ प्रेज़ेंट को, वर्तमान को जीना, उसके हर मिनट और लम्हे को जीना।' मैंने खीझकर कहा, 'तो यहां क्यों वक़्त बरबाद करता है? जा जी, आराम से जी और मुझे भी जीने दे।' मां बोली, 'फोटो तो सुंदर है लेकिन क्या लिखा है?' इस पर अपने चन्द-चिराग़ ने कुछ पंक्तियां पढ़ सुनाई। मां की समझ तो दूर, मेरा भेजा भी कोई मतलब पकड़ न सका। कविता इस प्रकार थी—

मैं भुनी मूंगफली का छिलका
जो आज गिरा है इधर-उधर
बस में, ट्रामों में
सिनेमा में, प्लेटफार्म पर
खण्ड-खण्ड हो बिखरा है
वह कल को/पिसकर किसी मसाले में
फिर पेट तुम्हारा छेदेगा
इसलिए लाज़िम है
ओ ख़ाने वालों!
मुझको यूं मत फेंको
मुझे भी निगल जाओ
मुझे निश्चय ही तुम्हारे पेट में जाना है
वही मेरा गंतव्य है
नियति है।

मैं अपने नगर के पब्लिक कॉलेज-प्रबंधन कमेटी का मेम्बर हूं। उस दिन इण्टरव्यू कमेटी में मेरा जाना इसलिए भी ज़रूरी हो गया कि मुन्ने की मां का भतीजा भी नौकरी का उम्मीदवार था। इण्टरव्यू में उससे अनेक सवाल पूछे गये। अंत में मैं भी पूछ बैठा, 'तुम्हारी विशेष हॉबी क्या है?' वह बोला, 'नयी कविता।' एक मेम्बर चौंक उठे। वे ख़ुद भी शायर रह चुके थे—बोले, 'नयी कविता से तुम्हारी मुराद?' ज़वाब मिला, 'आत्म-ईमानदारी का संकल्प।' एक मेम्बर संकल्प का अर्थ तिलांजलि समझकर खीझ उठे कि 'ऐसे ग़ैर-ईमानदार आदमी के लिए इस कालिज में कोई

जगह नहीं।' कैंडीडेट ने बताया कि, 'हमारा तो नारा ही ईमानदारी है, हमारी कविता भी ईमानदारी की है। यही इसकी मूल ख़ासियत है।' इस पर मीटिंग में बैठे शायर मेम्बर तिलमिला उठे, 'यानी कि पुरानी कविता बेईमानों की कविता है।' मैं बीवी का ख़याल करता हुआ बीच-बचाव की ग़रज़ से बोल उठा, 'ख़ैर कविता कोई भी हो, नयी या पुरानी, कविता फिर भी कविता ही है। हां, इनकी कविता कैसी है, इसका नमूना ज़रूर देख लेना चाहिए। इस पर यह कविता पढ़कर सुनाई गयी—

एटम बम की ठाह
ठाह ठाह ठह ठाह ठाह ठह ठाह
सबसे बड़ी विरही की आह।

उसकी इस रैपिड फायरिंग से हमारे कानों के रडार सेट तनतना उठे। मैं अपनी हिमाक़त पर शर्मिन्दा हो रहा था। वह अभी और सुनाने पर आमादा नज़र आता था कि मुझे लाचार होकर कहना पड़ा, 'इस महाकाव्य को...' मेरी बात अभी बीच ही में थी कि वह बोल उठा, 'हम नये कवि महाकाव्य भी नहीं लिखते। उसमें हमारी आस्था नहीं। वह तो जीवन की अर्थी है। लाश ढोने का चौखटा है। न हम गीत लिखते हैं, न महाकाव्य। हम लिखते हैं नयी कविता, जो इन सबसे आगे का क़दम है...।' इसके आगे कि वह कुछ और बयान देता, उसे खोटे सिक्के की तरह वापस भेज दिया गया। मेरे घर पहुंचने से पहले ही वह वहां मौज़ूद था, बोला, 'अंकल, इण्टरव्यू का कोई ग़म नहीं। हां, मेरा यह नया प्रकाशन भेंट-स्वरूप रख लीजिए। एक प्रति मुन्ने के लिए भी है।' मुझे इस इन्फिल्ट्रेटर पर गुस्सा आ रहा था जो मेरे ही घर में जेहाद का प्रचार करने पर तुला था। मगर उसे क्या दोष देता! अपने अज़ीज़ की शोहरत नये कवि के रूप में काफ़ी फैल चुकी थी। नयी कविता की बहुत-सी पत्रिकाएं ऐसी आती थीं, जिनमें उसकी कविताएं अक्सर छपती थीं मगर पैसे देकर। एक बार मैंने ज़रा आपत्ति की तो वह बोला, 'यह सब हमारा सहकारी प्रयास है।' सहकारी खेती, सहकारी बिज़नेस तो सुना था मगर यह नयी सहकारिता मेरे लिए हैरानी का बाअस बन रही थी।

पिछले दिनों एक कवि सम्मेलन में मुझे मज़बूरन जाना पड़ा। एक तो हमारा बेटा उसमें हिस्सा ले रहा था, दूसरे उसकी मां और दादी का भी इसरार था। उनका विचार था कि ख़ुदा-ख़ुदा करके अपने ख़ानदान में कोई कवि तो पैदा हुआ, भले ही कैसा भी है, पुराना या नया। दादी को तो हमारे बरखुरदार ने इतना मुतआस्सिर कर लिया था कि उसका अक़ीदा बन चुका था कि अगर आज उसके दादाजी ज़िंदा होते तो वे भी नयी कविता लिखते। ख़ैर, मैं सम्मेलन में गया जहां चन्द छोकरे जमा थे, जो रत्नाभूषण की परीक्षा में छंद के पेपर में कई बार फेल हो चुके थे। मुझे देखकर

वे सम्मान के लिए नहीं उठे। उनके एक सरकर्दा मेम्बर ने बताया कि उनके कवि सम्मेलन के दस्तूर के मुताबिक़ वहां से केवल श्रोता ही उठते हैं और वे स्वयं तो सम्मेलन के अंत पर ही उठते हैं। अतः बैठे-बैठे ही अभिवादन हुआ। दस-बीस लोग और भी आए और सम्मेलन प्रारंभ हुआ। सर्वप्रथम एक कवि मुख़ातिब हुए, 'हमें श्रोताओं की कम देखकर मायूस नहीं होना चाहिए क्योंकि हमारी कविता कॉमिटेड—प्रतिबद्ध नहीं और हमारी कविता न ही अड्रैस्ड, संबोधित है। इसलिए इस थोड़ी हाज़िरी को श्रोता-संकट तसव्वुर न किया जाए। हमें श्रोताओं की दाद नहीं चाहिए। उनसे प्रार्थना है कि वे इस हरकत से बाज़ आएं। ऐसे नॉन-कॉमिटेड, नॉन-अड्रैस्ड ओपनिंग की हम श्रोता ताब न ला सके और सभी को एक साथ वाक आउट करना पड़ा। अपनी इज़्ज़त को महफूज़ करने के लिए यह माइल्ड प्रोटेस्ट लाज़मी हो गया था।

हमारे पड़ोस में एक नये किरायेदार आए हैं। पति-पत्नी दोनों ही कविता का शौक़ रखते हैं। अपना लाड़ला उनसे काफ़ी घुलमिल गया है और उनके वहां बड़ा ही होमली महसूस करता है। पिछले संडे इस कपल को उसने अपने यहां इनवाईट किया था। जलपान के बाद गोष्ठी का कार्यक्रम था। शिष्टतावश हमें सपरिवार उसमें भाग लेना पड़ा। गोष्ठी का श्रीगणेश मुन्ने की नयी कविता से हुआ जिस पर वे मियां-बीवी सिर हिलाते रहे। कविता का असर मुन्ने की मां और दादी पर भी ख़ूब शिद्दत से हुआ। वह बोल रहा था—

रावण के दस सिरों पर लगे
गधे के सिर का
मैं कटा हुआ धड़ हूं
ओ पुराण-लेखकों/बेईमानों
रावण तो शक्तिशाली था
उसने उंगली पर कैलाश उठाया था
मुझे जीवित ही
सारे के सारे सिंगल पीस को
उसके सिर पर क्यों नहीं बिठा दिया
रावण को उससे कभी एतराज़ न होता
क्या मैं सारे का सारा
उसकी मूर्खता से भारी पड़ता?

आमंत्रित कपल हमारे मुन्ने के इतिहासबोध से दंग रह गए थे। उसकी पौराणिक व्यंजनाएं मार्काख़ेज़ थीं। अब कपल की बारी थी। पहले पति महोदय ने कविता पढ़ी—

मैं संततिनिरोध का नुस्ख़ा हूं
भले ही आज़माओ या न आज़माओ
जो होना है सो होगा
होनी को किसने रोका है?

मैंने बीच में ही टोकने की गुस्ताख़ी की तो वे बोले, 'हमारी नयी-नयी शादी हुई है। मैंने अपने क्षण-विशेष की अनुभूति को ऐसे बिम्बों में बांधा है, ऐसे अप्रस्तुतों में प्रस्तुत किया है जो एकदम अछूते हैं, जिन्हें मैंने भोगा है और जिया है तथा यही आधुनिकता है, वर्तमान का स्थिति-बोध है।' मुन्ने ने क़हरभरी नज़रों से मेरी ओर देखा। मेरी नोंक-झोंक को वह अपने मेहमानों की इन्सल्ट समझ रहा था। लाचार होकर मैं चुप हो गया। अब उनकी पत्नी की बारी थी, वे बोलीं, 'एक नया प्रयोग है।' हमारे कान खड़े हो गये। कविता कुछ ऐसी थी–

कई बार
निटिंग करते हुए मैंने–
कि यह धागा
जिसे मैं उंगली पर लपेटती हूं– क्या है
यह सलाई
जिससे बुनती हूं
आख़िर क्या है
स्थितियां दो हैं, सवाल दो हैं
उत्तर एक है
वह हैं मेरे 'पति'
जो मेरी उंगली पर नाचते हैं
जिन्हें सलाई की तरह मैंने सीधा कर रखा है।

यह सुनकर उनके सीधे-सादे पति ज़रा और सीधे होकर बैठ गये। कविता के बाद वे बोलीं, 'यह एक नया एक्सपैरिमेंट है जो चिरंतन और सनातन रहेगा क्योंकि प्रत्येक युग में पत्नी, पति को उंगलियों पर नचाएगी और सलाई की तरह सीधा भी करेगी।' मुन्ने की मां पर इस व्याख्या का गहरा प्रभाव पड़ा। वह पूछ बैठीं, 'बहन, स्वैटर तो मैंने भी बहुत बुने हैं मगर ऐसा ज्ञान कभी नहीं सूझा।' वे बोलीं, 'कबीर को भी ज्ञान की बात स्पष्ट नहीं पर ही सूझी थी, मगर वह पुरानी कविता की बात थी। नयी कविता का आत्मबोध निटिंग की सलाइयों पर ही संभव है।' मैं जल्दी में था, उठ आया। पता नहीं वह बैठक कब तक जमी रही।

आज सुबह ही एक हंगामा हो गया। मेरे एक मित्र मुन्ने से पूछ बैठे कि क्या करते हो आजकल? मेरे मुंह से निकल गया, 'नयी कविता।' मेरे इस कमेण्ट पर

उसकी पेशानी पर बल पड़ गये, बोला, 'डैडी, मैंने नयी कविता कब की छोड़ दी है। वह पुराने युग की बात हो गयी है।' मैंने चैन की सांस ली कि चलो पिंड छूटा, मगर साथ ही उसने मेरी नॉलेज में इज़ाफ़ा करते हुए कहा, 'मैं अब अकविता करता हूं।' मैं समझ न सका कि बेटा अब किस नए मर्ज़ में मुब्तला हो गया है। उसने बताया कि अकविता नयी कविता से आगे का चरण है, जिसमें संभावनाओं की नयी ज़मीन को खोदा गया है। मैंने कहा, 'नामुराद! ग़नीमत है कि पहले वाली पहाड़ की ख़ुदाई में कम-से-कम एक चुहिया तो निकल आयी थी, मगर इस नयी ख़ुदाई में इसकी भी गुंजाइश नज़र नहीं आती।'

मुन्ने की दादी ख़ुश है कि वंश-परंपरा आगे बढ़ी है मगर कभी-कभी उदास भी हो जाती हैं कि मेरा नाम बीच में से ग़ायब है। मैं पहले अपने को कविवंश में अकवि मानता था मगर जब से मुन्ने ने अपने को अकवि घोषित किया है तो मैं सोचता हूं कि मैं क्या हूं? कवि था नहीं, अकवि हूं नहीं। मैंने यह समस्या मुन्ने के आगे रखी है। वह इस नयी स्थिति पर शीघ्र ही कोई प्रयोग करने वाला है।

श्रीलाल शुक्ल

जीवन का एक सुखी दिन

'जीवन का एक सुखी दिन' लगभग पैंतालीस साल पुरानी रचना है। उस दिन के सुखों में एक ऐसा ही सुख है जिसमें बस कंडक्टर एक रुपये का नोट लेकर पूरी की पूरी रेज़गारी वापस कर देता है और टिकट की पुश्त पर 'इकन्नी' का बक़ाया नहीं लिखता। ज़ाहिर है कि यह रचना उन दिनों की है जब 'इकन्नी' भी आदान-प्रदान में एक महत्त्वपूर्ण सिक्के की भूमिका निभाती थी।

संपादक महोदय ने मुझसे प्रत्याशा की है कि पुनःप्रकाशन के लिए अपनी किसी श्रेष्ठ रचना का चयन कर दूं। मेरी श्रेष्ठ रचनाएं बहुत कम हैं और जो होंगी भी उन पर भरोसा नहीं है। उन्हें दूसरे लोग ही जानते होंगे, मैं उतना विश्वासपूर्वक नहीं। फिर भी, यह रचना चुनने के कुछ कारण हैं। एक तो यही कि यह लंबी नहीं है और पाठक के लिए इसे पढ़ते हुए अधिक समय नष्ट नहीं करना पड़ेगा। दूसरा कारण यह है कि यह रचना मुझे पसंद है। मेरी अपेक्षाकृत कम ख़राब रचनाओं में से है। तीसरी बात यह है कि अनजाने ही सहज उक्तियों के सहारे सीधी-सादी भाषा में एक मध्यमवर्गीय व्यक्ति का इसमें जो चरित्र उभरता है वह दिखावट, दंभ, अपने को अनावश्यक रूप से चतुर मानने की प्रवृत्ति और जीवन की छोटी-छोटी झुंझलाहटों को भुलाकर शहीद बनने की टिपिकल स्थिति है जो मध्यवर्गीय चरित्र की अपनी विशेषता है। यह भी लक्ष्य किए जाने योग्य है कि यह रचना 'भारत एक बाज़ारवाद' के विकास के बहुत पहले की है और मध्यवर्गीय चरित्र के प्रति जो संकेत दिए गये हैं वही आज अपने विराट-स्वरूप में विकसित हो रहे हैं।

रचना का अंत एक स्वल्प बुद्धिजीवी की उस अपरिहार्य परिस्थिति से होता है जिसका नाम पागलपन है। फ़र्क़ यह है कि यहां हमारा मुख्य पात्र ख़ुद पलायन नहीं करता बल्कि उस उत्सवभाव का आनंद उठाता है कि उसके दूसरे मित्र अगले दिन उसे अकेला छोड़कर पिकनिक पर जाने वाले है।

यह तो सरसरीतौर पर मेरी अपनी प्रतिक्रियाएं हैं। पाठक अगर चाहें तो इस रचना में इस तरह की कई और बहुत-सी खूबियां खोज सकते हैं। और, अंत में यह निष्कर्ष तो स्पष्ट है ही कि इन सब छोटी-छोटी कृपाओं के लिए ईश्वर को धन्यवाद—गॉड मे बी थैंक्ड फ़ॉर स्माल मर्सीज़।

सवेरे नहा-धोकर मैंने लांड्री से धुलकर आयी हुई क़मीज़ और पतलून पहनने को निकाली और ताज़्ज़ुब के साथ देखा, उनका कोई भी बटन टूटा नहीं है। तभी एक कोने में रखे हुए जूतों पर निगाह पड़ी, पुरानी आदत के मुताबिक़ आज के दिन नौकर ने उन पर काली पॉलिश, लालवाले ब्रुश से नहीं की थी। जूते पर सही ब्रुश का प्रयोग हुआ था। मन-ही-मन मैंने कहा, यह मेरे जीवन का एक सुखी दिन होगा।

कॉलेज जाने के लिए बस पर चढ़ा और एक रुपये का नोट कंडक्टर के हाथ में दे दिया। जितनी रेज़गारी मिलनी थी, उसने वह पूरी-की-पूरी वापस कर दी। टिकट की पुश्त पर इकन्नी का प्रोनोट नहीं लिखा। सीट पर मेरी बगल में कोई महिला नहीं बैठी थी, इसलिए फ़िल्मी रोमांस की कमज़ोरी से फ़ुर्सत पाकर मैं आराम से पैर फैलाकर बैठ गया। मेरे पड़ोस में एक साहब आज का अख़बार पढ़ रहे थे। मुझे उसकी ओर ताक़ता हुआ पाकर उन्होंने ऊपरवाला पन्ना मेरी ओर बढ़ा दिया। अख़बार में मैंने देखा, न उस दिन किसी विदेशी ने हिंदुस्तान को तरक़्क़ी की सनद दी थी, न प्रधानमंत्री की कोई स्पीच ही आयी थी। अब मैं इत्मीनान से बिना ऊबे हुए अख़बार पढ़ने लगा।

रेलवे-क्रॉसिंग पर रेलवे के प्वाइंटमैन ने बस को आता हुआ देखकर भी फाटक खुला रहने दिया। बस बिना रुके हुए ऐसी आसानी से फाटक पार कर गयी मानो ऐसा रोज़ ही हुआ करता हो। कॉलेज के पास बस के रुकते ही मैं बिना किसी को धकेले, बिना किसी के घुटनों से टकराए, बिना 'थैंक्यू' और 'सॉरी' कहे नीचे उतर आया। स्टैंड पर एक चाटवाला मुझे मिला तो ज़रूर, पर उसने न तो मेरी ओर देखा ही और न मुझे फुसलाने वाली आवाज़ में गरमागरम चाट की आवाज़ ही लगाई।

दिनभर कॉलेज में बड़ा सुख रहा। लड़कों को यूरोप-यात्रा पर एक सीधा-सादा लेख पढ़ाया। दूसरे दर्ज़े में सदाचार की महिमा समझाई। न तो उन्हें कोई प्रेम-गीत ही पढ़ाना पड़ा, न किसी हास्य-व्यंग्यपूर्ण उक्ति का अर्थ समझाना पड़ा। ख़ाली घंटे में मेरी कोई भी छात्रा अपनी किसी भाव-प्रधान कहानी या कविता में संशोधन कराने नहीं आयी। चापलूस छात्रों ने मेरी किसी असफल रचना की प्रशंसा नहीं की। किसी लेक्चरर ने विद्यार्थियों के सामने मुझे 'अमां यार' कहकर नहीं पुकारा। मेरे एक प्रतिद्वंद्वी लेक्चरर के कमरे में कुछ विद्यार्थी क्रांति के नारे लगाते बाहर निकल आए। स्टाफ-रूम में प्रिंसिपल के बारे में ख़ूब गंदे-गंदे क़िस्से, बिना अपनी ओर से कुछ कहे ही, फोकट में सुनने को मिल गये।

शाम को घर वापस आने के पहले एक मित्र एक बड़े रेस्तरां में चाय पिलाने ले गये, पर बातें उन्होंने मुझे ही करने दीं। ख़ुद ज़्यादातर चुप रहे। रेस्तरां के सामने

रिक्शेवाले को पैसे देने के लिए मैंने अपनी ज़ेबें टटोलीं, मेरी ज़ेब से दस रुपये का नोट निकला, पर मित्र की ज़ेब से पहले ही एक अठन्नी निकल आयी। रेस्तरां के भीतर भी मुझे कोई उलझन नहीं हुई। वेटर का हुलिया बड़े लंबे-चौड़े रोबदार बुज़ुर्ग का न था। वह दुबला-पतला था और नौसिखिया-सा दिखता था। पड़ोस की मेजों पर न कुछ मसखरे नौजवान थे, न फ़ैशनेबल लड़कियां थीं, न हँसी के ठहाके थे, न कोई मुझे घूर रहा था, न कोई मेरे बारे में कानाफूसी कर रहा था। रेस्तरां में भीड़ न थी पर इतने लोग थे कि काउंटर के पीछे से मैनेजर सिर्फ़ हमीं को नहीं, औरों को भी देख रहा था। हमारे चलने के पहले पास की मेज पर दो गंभीर चेहरेवाले आदमी आ गये और जब मैंने आपसी बातचीत में 'एक्ज़िस्टेंशिएलिज़्म' का अनावश्यक ज़िक्र किया, तब उन लोगों ने निगाह उठाकर मेरी ओर देखा था। रेस्तरां के बाहर आने पर मेरा एक परिचित बीमा-एजेंट सड़क के दूसरी ओर जाता हुआ दीख पड़ा, पर उसने मुझे देखा नहीं। इसके बाद अचानक ही मुझे तीन परिचित आदमी मिल गये। उन्होंने नमस्कार किया और उसका ज़वाब पाया। मेरे मित्र को कोई परिचित आदमी नहीं मिला।

घर वापस आकर मैंने श्रीमतीजी से सिनेमा चलने का प्रस्ताव किया पर उन्होंने क्षमा मांगी और कहा कि उन्हें लेडीज़ क्लब जाना है। इसलिए मैं पूर्व निश्चय के अनुसार अपने एक मित्र के साथ सिनेमा देखने चला गया। सिनेमा का टिकट खिड़की पर ही मिला और असली क़ीमत पर मिला। पंखे के नीचे सीट मिल गयी। सिनेमा शुरू होने के पहले साबुन, तेल और वनस्पति घी के विज्ञापनवाली फ़िल्में नहीं दिखाई गईं। पास की सीट से किसी ने सिगरेट के धुएं की फूंक मेरे मुंह पर नहीं मारी। पीछे बैठनेवालों में किसी ने अपने पैर मेरी सीट पर नहीं टेके। अंधेरे में किसी ने मेरा अंगूठा नहीं कुचला। हीरो की मुसीबत पर किसी पड़ोसी ने सिसकारी नहीं भरी। हिंदी की फ़िल्म थी, फिर भी वह अठारह रील पूरी करने के पहले ही ख़त्म हो गयी। सिनेमा से बाहर आने पर कई रिक्शेवालों ने मिलकर मुझ पर हमला नहीं किया। रिक्शा करने पर मज़बूर हुए बिना ही मैं पैदल वापस लौट आया। रात में सुनसान सड़क पर मेरे पैदल चलने पर भी कोई साइकिलवाला मुझसे नहीं टकराया, किसी मोटरवाले ने मुझे गाली नहीं दी, किसी पुलिसवाले ने मेरा चालान नहीं किया।

घर आकर ख़ाना ख़ाने बैठा तो उस वक़्त रुपये की कमी पर कोई घरेलू बातचीत नहीं हुई। नौकर पर गुस्सा नहीं आया। बातचीत के दौरान मैं श्रीमतीजी से साहित्य-चर्चा करता रहा, यानी अपने साथ के साहित्यकारों को कोसता रहा। वे दिलचस्पी से मेरी बातें सुनती रहीं और मेरे टुच्चेपन को नहीं भांप पाईं।

घर के चारों ओर शांति थी। किसी भी कमरे में बिना मतलब बल्ब नहीं जल रहा था, न बिना वजह किसी नल का पानी बह रहा था, न दरवाज़े पर कोई मेहमान पुकार रहा था, न रसोईघर में किसी प्लेट के टूटने की आवाज़ हो रही थी, न रेडियो पर कोई कवि सम्मेलन आ रहा था, न पड़ोस में लाउडस्पीकर लगाकर कीर्तन हो रहा था। और सबसे बड़ी बात यह कि कल आनेवाला दिन इतवार था, उस दिन मेरे सभी उत्साही मित्र शहर से कहीं दूर, पिकनिक पर चले जाने वाले थे।

शंकर पुणतांबेकर

तेरहवां डिनर

संपादक का 5 नवंबर, '06 का पत्र। उसमें अनुरोध कि 'व्यंग्य यात्रा' के अगले अंक के लिए मैं अपनी प्रकाशित अथवा अप्रकाशित श्रेष्ठ गद्य व्यंग्य-रचना का चुनाव करूं और इसे उनके पास इस टिप्पणी के साथ प्रेषित करूं कि यह रचना मुझे क्यों पसंद है? इस अनुरोध में विकल्प भी है। मैं चाहूं तो टिप्पणी के स्थान पर चुनी हुई व्यंग्य-रचना की रचना-प्रक्रिया प्रेषित कर सकता हूं।

दोनों ही स्थितियां विकट हैं। विकल्पवाली तो अति विकट। किसी रचना का 'क्या-क्यों' तो हम बता सकते हैं, 'कैसे' नहीं। वास्तव में लेखक जब लिखता है तो वह मस्तिष्क के उस कल्पना प्रवाह में रहता है जिसकी गति काग़ज़ पर उतरती है और अवतरण की यह क्रिया, कल्पना प्रवाह को गतिमान बनाए रखती है। दूसरे शब्दों में मस्तिष्क में कल्पना के प्रवाह की गति और काग़ज़ पर उसके अवतरण की कृति एक दूसरे के कार्य-कारण भाव हैं।

इस कार्य-कारण भाव के पीछे कोई प्रेरणा होती है। लेखक, लेखन के घटक-भाव, विचार, कल्पना के संबंध में तो 'कैसे' की प्रक्रिया प्रेषित कर सकता है, पर प्रेरणा के संबंध में नहीं। यह विकट है। सो मैं टिप्पणी के पहले पक्ष, 'मुझे रचना क्यों पसंद है', पर यहां अपने विचार प्रकट कर रहा हूं।

यहां भी स्थिति विकट इसलिए है कि प्रथम अपनी श्रेष्ठ रचना का चुनाव ही कठिन है। किसी एक को चुनें तो दूसरी अपना सिर ऊपर उठाकर कह सकती है, क्या मैं श्रेष्ठ नहीं हूं? दूसरे, लेखक को अपने ही नाम अपना वकालतनामा लिखना होगा जो अपने मुंह मियां-मिट्ठू बनने से कम नही है।

मेरी कुछ अच्छी रचनाओं में मैं एक बोरकथा, शैतान, एक समानांतर, राम को न भूलो, एक कक्ष की खोज, तेरहवां डिनर के नाम यहां दे रहा हूं। दे रहा हूं जिज्ञासु पाठकों के लिए क्योंकि ये सभी प्रकाशित हैं संग्रहों में। विचार कर रहा हूं यहां 'तेरहवां डिनर' का।

लक्षणा, व्यंजना, प्रतीक, पुराण-लोककथा, विडंबना (पैरोडी), फंतासी आदि में व्यंग्य लिखना जितना कठिन नहीं है उतना अभिधा में लिखना कठिन है। करोड़ तुम आदमी इकट्ठा कर लो या रुपये, सफल का मतलब सर्वगुणसंपन्न नहीं, उत्तर तो तुम छांट लोगे पर सही प्रश्न छांटना ही सही ज़िंदगी है। अभिधा के ये व्यंग्य जितने आसान लगते हैं उतने हैं नहीं। इनमें वही प्रभावशीलता है जो लक्षणा-प्रतीक व्यंग्यों में होती है। लक्षणा-प्रतीकों के कुछ उदाहरण—भैंस की सूरत मत देखो उसका दूध देखो— दूध! स्वयंवर की राजकुमारी के सवालों के उत्तर खोजने राजकुमार मंडप से चले तो दरबान चले राजकुमार के कपड़े खोजने। जेल में सोने के सींख़चे लग जाने के बाद ही नेताजी को गिरफ़्तार किया गया।

हरिशंकर परसाई के फंतासी व्यंग्य 'भातादीन चांद पर', 'भोलाराम का जीव' को पकड़ उनके 'आंगन में बैंगन', 'अपनी-अपनी हैसियत' तथा शरद जोशी के प्रतीक व्यंग्य 'जीप पर सवार इल्लियां', 'मुद्रिका रहस्य' को पकड़ उनके 'कहहुं लिखि कागद कोरे', 'होना कुछ नहीं का', की अनदेखी समीक्षकों की बालबुद्धि का परिचय देती हैं, क्योंकि फंतासी-प्रतीक के रंग कृत्रिम होते हैं जबकि अभिधा के सहज स्वाभाविक।

मेरी व्यंग्य-रचना 'तेरहवां डिनर' में आदि से अंत तक अभिधात्मकता है। अभिधा में ही वह बहुत कुछ कह जाती है। यथा— मैं तो यह मानता हूं कि डिनर एक ऐसी ग़ैर-ज़रूरी चीज़ है जिसमें ग़ैर-ज़रूरी लोग हिस्सा लेकर उसे ऐसी शानदार शक्ल प्रदान करते हैं कि प्रतिष्ठा के लिए वह एकदम ज़रूरी बन जाती है।

तुम्हारे बाप ने कैसे-कैसे कष्ट झेले कि तुम्हारी ज़िंदगी डिनर बने।

डिनर...जैसे एक सेट फ़िल्म। सेट फ़िल्म से वे ही सेट, वे ही पात्र और वे ही डायलॉग। वे ही पात्र से मतलब पात्र बदलकर भी बदलते नहीं हैं। कलेक्टर कमल की जगह कलेक्टर हसन बदल गया, तब भी पात्र नहीं बदला क्योंकि वह कलेक्टर है। इसीलिए डॉ. वाहिदा और डॉ. माला में कोई अंतर नहीं है क्योंकि वे डॉक्टर हैं।

मैंने अपने डावरमैन को फ्लोरिडा भेजा था, इलाज़ के लिए। हालांकि वह वहां मर गया, लेकिन मुझे इस बात का संतोष है कि वह यहां भारत में नहीं मरा। डिनर सोसायटी में बेटों का भारत में होना उनके मां-बाप की ट्रेजेडी की निशानी है। भारत में होकर भारत में न होना यह हमारे कैरियर का एक चरमबिंदु है। ये वाक्य इस मायने में भी मार्के के हैं कि ये वर्ण्येत्तर विषयों पर चोट करते हैं। रचना में इस तरह की बुनावट व्यंग्य को जहां सूक्ष्म बनाती है, वहां वज़नदार भी।

मैं डिनर को जाना नहीं चाहता था। वह तेरहवां डिनर था इसलिए नहीं, तेरह के प्रति मेरा अंधविश्वासियों की भांति ऐसा-वैसा भाव नहीं था, मैं डिनर से ही ऊब गया था।

चाचाजी को जब ज्ञात हुआ कि मैं डिनर को नहीं जा रहा हूं तो दौड़े-दौड़े मेरे पास आये और बोले, 'अरे तुम डिनर को नहीं जा रहे हो, क्यों नहीं जा रहे हो? चलो पहनो कपड़े और डिनर को जाओ।'

यह सुन मैंने चाचाजी से कहा, 'मैं इसलिए नहीं जा रहा हूं चाचाजी कि यह डिनर ऐसा है जिसमें मैं नहीं गया तो भी चलेगा।'

'बेटे, अब तक का कौन-सा डिनर ऐसा था जिसमें तुम्हारा जाना ज़रूरी था? डिनर तुम्हारे लिए ग़ैरज़रूरी था या तुम स्वयं डिनर के लिए ग़ैरज़रूरी थे, इस बहस में पड़ना फ़िज़ूल है। मैं तो यह मानता हूं कि डिनर एक ऐसी ग़ैरज़रूरी चीज़ है

जिसमें ग़ैरज़रूरी लोग हिस्सा लेकर उसे ऐसी शानदार शक्ति प्रदान करते हैं कि प्रतिष्ठा के लिए वह एकदम ज़रूरी बन जाती है।

चाचाजी ने ऐसी शब्दजाल-भरी बात की कि मेरी समझ में कुछ नहीं आया। वे आगे बोले, बेटे ऐसे हिम्मत हारोगे तो कैसे काम चलेगा! यह तो तेरहवां ही डिनर है, अभी तो तुम्हें सैकड़ों डिनर पार करने हैं। तुम्हारे बाप ने कैसे-कैसे कष्ट झेले कि तुम्हारी ज़िंदगी डिनर बने। उनका सपना जैसे—तैसे पूरा हुआ, और तुम हो कि हिम्मत हार रहे हो।

मैं कुछ कहूं उसके पहले ही अपनी बात को जारी रखते हुए चाचाजी ने कहा, एक ज़रूरी बात गांठ बांध लो। क्या ज़रूरी है, क्या ग़ैरज़रूरी है इसका ख़्याल तुम जैसे डिनर-सोसायटी के लोगों के लिए ज़रूरी नहीं है। क्या तुम जैसे स्टेटस के लोग यह देखें कि मैं ग़ैरज़रूरतों का क़सूरवार हूं? मेरे पास पैंट-बुशर्ट के पच्चीस-पच्चीस नग हैं जबकि बाहर लोगों के पास कपड़े नहीं हैं, अथवा मेरे पास तीन-तीन बंगले हैं या मेरे पास दस-दस कमरे हैं जबकि बाहर लोगों के पास मकान नहीं है अथवा मैं डिनर पर हाथ मार रहा हूं जबकि बाहर लोगों के पास रोटी नहीं है ख़ाने के लिए। बेटे! तुम डिनरवाले लोग विनर हो विनर जो कभी ऐसी फ़ालतू बातों का विचार नहीं करते। यह विचार तो मुझ जैसे लोग करते हैं या तुम्हारे पिता करते थे...हम रनर लोग। पराजित लोग।

विनर...रनर...यह कैसी बात कर रहे हैं आप चाचाजी! मैंने कुछ चिढ़कर ही कहा।

रनर बेचारा पेड़ लगाता है, पूरी मशक्कत के साथ उसकी परवरिश करता है। विनर क्या करता है? विनर केवल भाषण देता है, पेड़ लगाओ। उसकी निगरानी करो। हमारा देश तभी उन्नति की ओर अग्रसर होगा जब आप लोग पूरी निष्ठा और लगन के साथ पेड़ लगाओगे। 'हमारा एक ही हो नारा, बिना लगाए पेड़ नहीं चारा।'

बेटे, अब जिस रनर ने पेड़ लगाए, फल उसे ख़ाने को नहीं मिलते। फल ख़ाने को मिलते हैं विनर को जो पेड़ पर भाषण देता है।

अरे, मैं बातों में लग गया, चलो उठो और कपड़े पहन तुम डिनर को जाओ। मुझे उठना पड़ा।

X X X

डिनर...जैसे एक सेट फ़िल्म चढ़ा दी वी.सी.आर. पर। बस उसका स्थान बदलता रहता है।

सेट फ़िल्म सो वे ही सेट, वे ही पात्र और वे ही डॉयलॉग। वे ही पात्र से मतलब पात्र बदलकर भी बदलते नहीं हैं। कलेक्टर कमल की जगह कलेक्टर हसन बदल गया, तब भी पात्र नहीं बदला क्योंकि वह कलेक्टर है। इसीलिए डॉ. वाहिदा और डॉ. माला में कोई अंतर नहीं है क्योंकि वे डॉक्टर हैं।

चूंकि मेरे पहले बारह डिनर हो चुके थे, सो मुझे उसके पात्र मुखाग्र हो गये थे और डॉयलॉग अच्छी तरह से परिचित।

सारे पात्र डिनर के, सो ये प्लेट जैसे बजते थे।

प्लेट की आवाज़ दाल-चावल-चपाती जैसी पौष्टिक, पर उस पर कढ़ी आर्ट उसकी डिज़ाइन, उसकी क्वालिटी जैसी मधुर नहीं।

खाते समय प्लेट बजती है जब चम्मच चलता है, प्लॉट बजता है जब भाषण चलता है, प्लॉट बजता है जब अहं चलता है।

बजने को यहां बहुत कुछ बजता है।

हैलो...हाय...कुत्ता क्या कहता है तुम्हारा?

बीमार है तो यहां मत इलाज़ कराना। अमरीका भेजना। विदेशी कुत्ता है। मैंने अपने डाबरमैन को फ्लोरिडा भेजा था इलाज़ के लिए, हालांकि वह वहां मर गया, लेकिन मुझे इस बात का संतोष है कि वह यहां भारत में नहीं मरा।

कई बार मुझे लगा है कि बड़े लोग विदेश में क्यों जाते हैं इलाज़ के लिए? क्या भारतीय डॉक्टर बेवकूफ़ हैं जो इनका इलाज़ नहीं कर सकते? बिल्कुल कर सकते हैं, लेकिन ये बड़े लोग शर्म के मारे उनके पास नहीं जाते। विदेश में शर्म का सवाल नहीं। सीधे-सीधे पहुंच जाते हैं जानवर के डॉक्टर के पास और कहते हैं हमारा इलाज़ करो।

वे इलाज़ करते हैं और ये चंगे होकर चले आते हैं।

हां, तो मैं कह रहा था डिनर में बजने को बहुत कुछ बजता है।

कहती हैं– इफ़ यू एट ऑल हैव इट! मिसेज़ सिन्हा धीरे से कहती हैं जिसे मैं सुन लेता हूं। मिसेज़ सिन्हा बताती हैं, मैंने कल ही जार्जिया में अपने बेटे को फ़ोन किया। ही इज़ फेअरिंग बेरी नाइस देअर। इंडिया में तो वह रॉट हो जाता।

मिसेज़ डिसूजा मिसेज़ सिन्हा से मुंह फेर लेती हैं। उनका बेटा इंडिया में था। डिनर-सोसायटी में बेटों का भारत में होना उनके मां-बाप की ट्रेज़्डी की निशानी है।

हां, बेटे आई.ए.एस. हों, अथवा किसी कंपनी में बिग बॉस हों तो उनका भारत में होना नहीं माना जाता है।

भारत में होकर भारत में न होना, यह हमारे कैरियर का एक चरमबिंदु है। डिनर में कुछ लोग अपनी कारों की, शिविरों की, बंगलों की, क्रिकेटों की बातें करते हैं।

इधर-उधर की सामान्य बातों में कहते हैं, लगता है लॉन की हरियाली बढ़ गयी है?

मैं कहता हूं, हां हरियाली बढ़ गयी है क्योंकि बाहर सूखा पड़ गया है।

बर्फ़ी पर चांदी का वर्क कुछ ज़्यादा ही चढ़ गया है, नहीं? मैं कहता हूं, हां चांदी का वर्क ज़्यादा चढ़ गया है क्योंकि बाहर महंगाई बढ़ गयी है।

पुलाव के ये गोश्त के टुकड़े कैसा मज़ा दे रहे हैं। मैं कहता हूं, क्यों नहीं देंगे? कल ही तो गोली चलने से दस लोग मारे गये थे, जिनमें चार बच्चे थे और दो औरतें। आपके पुलाव में बच्चों का गोश्त होगा या औरतों का?

मैं बारह डिनरों में से तेरहवें डिनर में तब आया जब एक मिस की एड़ी बुरी तरह मेरे अंगूठे पर पड़ी। मैं चप्पल पहने था। मेरे मुंह से निकला 'हाय' और मिस ने मुझे ग्रीट किया हाय!

प्लेट ले जब मैं उसमें ख़ाने के पदार्थ लेने लगा तो मुझे लगा मैं प्लेट नहीं स्लेट लिए हुए हूं जिस पर अपनी ज़िंदगी लिख रहा हूं। हां, किया होगा आपने फोन। पर क्या बताऊं मिसेज़ सिन्हा, इधर कुछ दिनों से हमारा फ़ोन डेड है। एंड यू नो माई हेड इज़ डेड ह्वेन फ़ोन इज़ डेड। मिसेज़ डिसूजा!

नामवर सिंह

कौन बड़ा है?

डॉ. नामवर सिंह की मौखिक व्यंग्य-प्रतिभा से मैं बहुत पहले से परिचित था और उनके वाग्वैदग्ध्य से चमत्कृत भी, परंतु उनके व्यंग्य-लेखन से मैं परिचित नहीं था। यहां तक कि व्यंग्य पर शोध करते समय भी मेरी अनभिज्ञता बनी रही (क्योंकि मैं दिल्ली-विश्वविद्यालय का छात्र था न कि जे.एन.यू. का)। नामवरजी के व्यंग्यात्मक लेखन की ताक़त से परिचित कराने का श्रेय आदरणीय श्रीलाल शुक्ल को जाता है। सन् 1994 की बात है जब मैं, भाई श्रीकृष्ण के आग्रह पर, बीसवीं-शताब्दी व्यंग्य-संकलन का संपादन-कार्य कर रहा था और उसी सिलसिले में मैंने श्रीलालजी को, उनकी रचना, संकलन में सम्मिलित करने के लिए, पत्र लिखा था। उन दिनों श्रीलालजी नेशनल बुक ट्रस्ट के लिए 'हिंदी हास्य-व्यंग्य' संकलन तैयार कर रहे थे। उन्होंने मेरे सामने प्रस्ताव रखा कि क्यों न मैं इस संकलन को तैयार करने में उनका सहयोग करूं। मेरे लिए यह ऐतिहासिक महत्त्व का प्रस्ताव था जिसे नकारना केवल मूर्खता और मूर्खता के अतिरिक्त और कुछ न होता। श्रीलालजी के साथ संकलन तैयार करते समय मुझे उनकी अध्ययनशीलता का लाभ तो मिला ही, व्यंग्य के प्रति मेरी दृष्टि भी साफ़ हुई। इस सिलसिले में मुझे पता चला कि नामवरजी ने भी व्यंग्य-रचनाएं लिखी हैं जो 'बक़लम ख़ुद' में संकलित हैं। श्रीलालजी से संकलन लेकर मैंने पढ़ डाला और प्रभावित भी हुआ। संकलन के लिए श्रीलालजी को नामवरजी की रचना 'बापू की विरासत' पसंद थी और मुझे 'कौन बड़ा है'। नेशनल बुक ट्रस्ट वाले संकलन के लिए 'बापू की विरासत' को ले लिया गया और मैंने अपने संकलन के लिए 'कौन बड़ा है' का चुनाव किया।

इस स्तम्भ के लिए नामवरजी की इस रचना का चुनाव संपादक की पसंद पर आधारित है न कि लेखक की पसंद के आधार पर। (लेखक की क्या पसंद है, इसे रहस्य ही रहने दें।) प्रस्तुत व्यंग्य-रचना के पुनः प्रकाशन की अनुमति के लिए नामवरजी ने अनुमति तो सहर्ष दे दी परंतु इस पर 'फिलहाल टिप्पणी लिखना संभव नहीं है', कहकर अपनी असमर्थता प्रकट की। इस व्यंग्य-रचना के पुनः प्रकाशन का उद्देश्यमात्र यह है कि नामवरजी की मौखिक व्यंग्य-प्रतिभा से परिचित प्रशंसक, मेरी तरह अनभिज्ञ न रहें और उनकी लेखकीय व्यंग्यात्मक प्रतिभा से भी परिचित हों। नामवरजी की यह रचना साहित्य में पुरस्कारों की राजनीति और उसके लिए चलाए जा रहे दुष्चक्रों पर व्यंग्यात्मक प्रहार करती है। सुविज्ञ पाठक चाहें तो इसमें अन्य अनेक विसंगतियां भी ढूंढ सकते हैं। शोध का अच्छा विषय है।

—संपादक

कल जब मैं पुस्तकालय गया तो बड़ी चहल-पहल दिखाई पड़ी। बहुत-सी पुस्तकें अपनी-अपनी आलमारियों से निकलकर ज़ोर-ज़ोर से बातें कर रही थीं, वे चुप न बैठी थीं। पाठक सभी दर्शक की तरह देख रहे थे और पुस्तकें धूल-धक्कड़ झींगुर वग़ैरह से लिपटकर शृंगार कर रही थीं। किसी की हिम्मत न थी जो उनसे कुछ पूछता। मैं साहस करके पुस्तकाध्यक्ष महोदय से पूछ बैठा। उन्होंने अत्यंत सनसनीदार सूचना दी। बोले, 'अभी हाल ही में जब 'साहित्य सम्मेलन' में मंगलाप्रसाद पारितोषिक समिति की बैठक हुई तो एक सदस्य ने नया प्रस्ताव रखा कि इस वर्ष का पुरस्कार समूचे हिंदी साहित्य के सबसे बड़े साहित्यकार को दिया जाए। एक दूसरे सदस्य ने आपत्ति उठाई कि नियम के अनुसार तो यह केवल जीवित साहित्यकारों को ही दिया जा सकता है। प्रस्तावक महोदय ने कहा कि क्या साहित्यकार भी कभी मरता है, वह तो अमर होता है। बात वाजिब थी, व्याख्या नयी थी। अपनी बात को पुष्ट करने के लिए प्रस्तावक महोदय ने कहा कि साहित्यकार तो शारीरिक रूप से मरने के बाद ही जीवित होता है। प्रमाणस्वरूप उन्होंने अपना ही उदाहरण दिया और कहा कि इस समय साहित्य में कोई उन्हें जीवित नहीं समझ रहा है। आगे उनका तर्क था कि नियम तो रूढ़ियों से ही बनते हैं। यदि हम लोग साहित्यकारों को अमर मानकर तुलसी, सूर, कबीर आदि को भी पुरस्कार देने की परम्परा चला देते हैं तो मरने के बाद स्वयं भी उसका पुरस्कार पावेंगे। इसके अतिरिक्त यदि कोई यह आपत्ति करता है कि क्या उन महाकवियों ने अपनी रचनाएं पुरस्कार के लिए भेजी थीं तो निःसंकोच ही कहा जा सकता है, क्योंकि सम्मेलन-पुस्तकालय में उन लोगों की पुस्तकें प्रकाशित रूप में ही नहीं, पाण्डुलिपि रूप में भी पड़ी हैं। जिन पुस्तकों की पाण्डुलिपि न हो, उनकी तैयार भी कराई जा सकती है।

प्रस्ताव इतना तर्क-सम्मत था कि सर्व-सम्मति से स्वीकृत हुआ, यद्यपि सम्मेलन के इतिहास में सर्व-सम्मति से होने वाला यह पहला प्रस्ताव था। अब समस्या थी कि यह कैसे देखा जाएगा कि कौन साहित्यकार सबसे बड़ा है। इस बार भी प्रस्तावक महोदय ही बोले कि इन सभी साहित्यकारों को पूरी तैयारी के साथ सम्मेलन-भवन में बुला लिया जाए और एक-एक कर सबकी ऊंचाई नाप ली जाए क्योंकि उनकी पुस्तकों को पढ़कर निर्णय करने में तो सालों लग जाएंगे।

सभी सदस्य मारे ख़ुशी के उछल पड़े। इस पर एक सदस्य ने कहा, 'इतनी बुद्धिमता से भरे प्रस्ताव पर स्वयं आप ही मंगला प्रसाद पारितोषिक के अधिकारी हो जाते हैं। अस्तु, मैं प्रस्ताव करता हूं कि अगले वर्ष का पुरस्कार आप ही को क्यों न दिया जाए?'

इस पर प्रस्तावक महोदय ने चट से कहा, 'आपकी इस गुण-ग्राहकता और ख़री सूझ को देखकर मैं प्रस्ताव करता हूं कि मेरे बाद वाले वर्ष का पारितोषिक आप ही को दिया जाए। यही नहीं, इतने महत्त्वपूर्ण प्रस्ताव जिस उपसमिति में स्वीकृत हो रहे हैं उसके प्रत्येक सदस्य को एक-एक कर आगामी वर्षों में पुरस्कृत कर देना चाहिए। यह तय नहीं कि आने वाले सदस्य इस बात से सहमत नहीं हों, अस्तु इस तरह का एक उपनियम बनाकर विधान में जोड़ दिया जाए।' 'अहं रूपं अहो ध्वनि' से भवन गूंज उठा।

लोग इतने प्रसन्न हुए कि प्रस्तावक महोदय को दुबारा पारितोषिक देने का प्रस्ताव आते-आते बचा। अंत में उस टूर्नामेंट के लिए तिथि निश्चित करके बैठक ने विराम लिया।

इतना कह चुकने के बाद पुस्तकाध्यक्ष महोदय ने कहा कि आज उसी सूचना का प्रभाव है जो पुस्तकें 'साहित्य सम्मेलन भवन' में जाने की तैयारी कर रही हैं। विद्यापति से प्रेमचंद और प्रसाद तक के साहित्यकारों की होड़ है अतएव इन सभी साहित्यकारों की पुस्तकें भी तमाशा देखने जा रही हैं क्योंकि इस विजय का प्रभाव उनके भावी जीवन पर पड़ सकता है। यों इन पुस्तकों में बहस वग़ैरह तो अभी से शुरू हो गयी है।

इतना सुना तो स्वयं भी घटनास्थल पर पहुंचने का लोभ संवरण न कर सका। स्टेशन की ओर झपटा हुआ जा रहा था कि 'हिंदी पुस्तक एजेंसी' पर बड़ी भीड़ देखी। पूछने पर मालूम हुआ कि शायद वेश बदलकर साहित्यकार लोग ही अपनी पुस्तकें ख़रीदने आए हैं। परंतु कुछ संत और भक्त कवि वहां नहीं दिखाई पड़े। दुकानदार ने कहा कि वे अपरिग्रही महात्मा लोग पैसा कहां से पाएं, अतः किसी पुस्तकालय की शरण में गये होंगे। इच्छा तो हुई लपककर 'कारमाइकेल' पुस्तकालय में देख लूं परंतु गाड़ी का समय हो गया था।

काशी से प्रयाग जाने वाली यह आख़िरी गाड़ी थी, इसलिए सबसे अधिक भीड़ इसी में थी। गाड़ी में आदमियों से ज़्यादा पुस्तकें ही थीं और स्टेशन मास्टर का कहना था कि यदि यही मालूम होता तो यात्री गाड़ी की जगह मालगाड़ी का ही प्रबंध किया गया होता।

रास्तेभर गाड़ी में पुस्तकों ने क्या-क्या काण्ड किए, इसका बयान न करना ही अच्छा है। रीतिकालीन पुस्तकें तो रातभर जागकर अन्त्याक्षरी करती गईं। आधुनिक युग की किताबों ने कवि-सम्मेलन का आयोजन कर लिया था। हां, बीच-बीच में यदि चुप दिखाई दे रही थीं तो भक्तियुग की पोथियां। यह अकाण्ड काण्ड देखकर

मानस, बीजक और सूरसागर वग़ैरह आंख मूंदकर रातभर माला जपते रहे अथवा ध्यानमग्न थे, यह अवश्य था कि रीतिकालीन पुस्तकें इस ध्यानलीन ग्रंथों पर कभी-कभी व्यंग्यात्मक समस्या पूर्तियां भी कर देती थीं। परंतु उसका कोई उत्तर नहीं दिया गया। यात्रा सकुशल समाप्त हुई।

उतरकर नियत समय से कुछ पहले ही सम्मेलन-भवन पहुंचा। पहुंचते ही देखा कि प्रकाशक लोग पहले से ही डटे हैं, क्योंकि यह उनके हानि-लाभ का ही नहीं, जीवन-मरण का प्रश्न था। थोड़ी देर बाद समालोचकों का दल भी आ धमका। इनमें कुछ लोगों ने कहा कि हम लोग दर्शकों के स्थान पर न जाकर सीधे अखाड़े में ही दाख़िल हो जाएं। परंतु आचार्य शुक्ल जैसे गंभीर समालोचकों ने चुपचाप दर्शक मण्डली में ही स्थान लिया। देखा-देखी कुछ और लोग भी बैठ गये परंतु मिश्रबंधु, पद्मसिंह शर्मा, लाला भगवानदीन जैसे अखाड़िया दिग्गज विद्वान अखाड़े में ही बैठे। सभी लोग तो अब तक आ गये थे परंतु जिनमें होड़ थी अर्थात जिन साहित्यकारो के भाग्य का निर्णय होने वाला था उनमें से किसी का पता न था। निर्णायक मण्डल भी बैठ गया। फीता लेकर नापने वाले महानुभाव बेचैन से नज़र आ रहे थे। नियत समय निकट आ रहा था परंतु प्रतिद्वंद्वी साहित्यकारों में से कोई भी नहीं पहुंचा। कानाफूसी होने लगी। कोई कहता, सूचना नहीं पहुंची होगी। कोई कहता, सवारी नहीं मिली होगी। कोई कहता, गाड़ी लेट हो गयी। परंतु कुछ लोगों का यह भी कहना था कि शायद अपना अपमान समझकर वे लोग न आए हों। मेरी बगल में कोई एकाक्ष पुरुष बैठे थे। उन्होंने कहा, 'क्या देखते हो? सभी साहित्यकार वेश बदलकर बैठे हैं। घंटा बजते ही असली रूप में दाख़िल हो जाएंगे।'

मुझे विश्वास नहीं हुआ। ठीक समय पर घंटा बजा। अंतिम झनक मौन भी न हो पाई थी कि शर्माजी ने अपने पॉकेट से बिहारी को निकालकर रख दिया। देखना था कि मिश्रबंधुओं ने देव को अपने झोले से निकालकर खड़ा कर दिया था। निर्णायक मण्डल देख रहा था कि केवल दो ही पहलवान मैदान में आए और बाक़ी किसी का पता नहीं। निर्णायकों को चुप देखकर शर्माजी तथा मिश्रबंधु एक साथ बोल उठे, 'जब समय हो गया है तो काम शुरू हो जाना चाहिए, कोई आए, चाहे नहीं।'

निर्णायक मण्डल मुंह छिपाने लगा। अंत में दृढ़ होकर सभापति ने कहा, 'भक्तप्रवर सूर, संत कबीर और महात्मा तुलसीदास आदि प्राचीन तथा भारतेंदु, प्रेमचंद, प्रसाद आदि अनेक नवीन महान साहित्यकारों में कोई नहीं आया है। अस्तु कार्यवाही उनके आने पर ही शुरू होगी क्योंकि यह हिंदी सम्मान का प्रश्न है।'

सभापति महोदय शायद कुछ और कहने वाले थे परंतु बीच ही में किसी ने टोककर कहा, 'क्या प्रसादजी को भी यहां बुलाया गया है? उन्हें तो एक बार मंगला प्रसाद पारितोषिक मिल चुका है।'

शर्माजी वग़ैरह ने कहा, 'यह प्रतियोगिता तो केवल प्राचीनों की ही है। नवीनों को इनमें नहीं बुलाना चाहिए था।'

और लोगों ने कुछ-न-कुछ कहा परंतु उस कौआ-रोर में कुछ सुनाई न पड़ा। यह देखकर आचार्य द्विवेदी और आचार्य शुक्ल उठकर जाने लगे। प्रबंधकों ने दौड़कर उन्हें बिठाने का अनुरोध किया। द्विवेदीजी तो नहीं माने– चले गये, परंतु शुक्ल शीलवश रुक गये। जब अधिक समय हो गया तो शर्माजी वग़ैरह ने फिर आपत्तियां उठाईं। इस बार प्रकाशकों के दल में कुछ सुगबगाहट शुरू हुई और देखते-देखते गीता प्रेस ने गोस्वामी तुलसीदास को, ब्रजमण्डल ने सूरदास को तथा इसी प्रकार सरस्वती बुक डिपो ने प्रेमचंद और नागरी प्रचारिणी सभा ने भारतेन्दु को अपने-अपने पॉकेट से निकालकर रख दिया। शेष सभी लोगों को एक साथ भारती भण्डार ने उपस्थित कर दिया। किताब महल ने भी एक अध्ययन सीरीज की पुस्तकों का टाल लगा दिया।

अब सरगर्मी आ गयी। इसी तरह सभी लोगों ने अपने-अपने प्रतिभागियों को मैदान में एक क़तार में खड़ा कर दिया। दर्शक देख रहे थे कि अनेक महाकवि छोटे पड़ रहे हैं। निर्णायक मण्डल ने आज्ञा दी– 'जो चाहे अपने साहित्यकार को ऊंचा दिख़ाने के लिए पांच मिनट तक अनेक सहायक साधऩों का उपयोग कर सकता है।'

आलोचकों और प्रकाशकों ने काम शुरू किया। तुलसी को ऊंची एड़ी की खड़ाऊं पहनाई गयी, तो कबीर के सिर पर लंबी टोपी रखी गयी, बिहारी को पगड़ी बांधी गयी तो देव को भी उचकने के लिए सिखाया गया। गरज कि सबको अलग-अलग असली कद से कुछ-न-कुछ ऊंचा दिखाया गया। अब संरक्षकों को अलग कर दिया। ज्यों ही नाप शुरू होने वाली थी, एक प्रकाशक ने पूछा, 'क्या इन महाकवियों को ऊंचा सिद्ध करने के लिए उनकी लिखी पुस्तकों तथा उनके संबद्ध आलोचना ग्रंथों का उपयोग नहीं किया जा सकता?'

देव के समर्थकों ने सबसे पहले हल्ला मचाया– 'ज़रूर, ज़रूर।'

निर्णायक मण्डल ने विवश होकर यह भी सुविधा दे दी। देखते-देखते मिनट भर के भीतर न जाने कितने रिसर्च स्कॉलर तैयार किए गये और उन्हें अग्रिम डॉक्टरेट भी दे दी गयी। इस तरह बहुत से महाकवियों के पैरों तले तो केवल सादे पत्रों का ही सजि़ल्द पुलिन्दा यह कहकर रखा गया कि यह अप्रकाशित थीसिस है।

किसी की हिम्मत न थी जो उसका विरोध करता। कुछ लोगों को इस पर भी संतोष न हुआ। अतः एक समीक्षक महोदय ने, जो सबसे लंबे थे, प्रस्ताव किया कि क्या अपने-अपने प्रतियोगियों को ऊंचा दिखाने के लिए हम लोग अपने कंधों का सहारा नहीं दे सकते?

पहले कुछ विरोध हुआ, अंत में डंके की चोट पर निर्णायक मण्डल ने यह निवेदन भी स्वीकार कर लिया। इस सुविधा के मिलते ही चारों ओर तहलका मच गया। पता न चला कि कौन दर्शक है और कौन प्रतियोगी। फलतः दर्शक कोई न रहा। पहले पुस्तकें रखी गईं। उन पर खड़े हुए प्रकाशक, प्रकाशकों के ऊपर आलोचक और आलोचकों के ऊपर रखा गया स्वयं कवि को परंतु यह निर्णय इतना जल्दी नहीं हुआ। एक कवि के अनेक आलोचकों में इसके लिए भी बहुत हुज्जत हुई कि किसके ऊपर कौन रहेगा। अंत में यह रास्ता निकाला गया कि ऊपर-नीचे रखने में तिथि-क्रम का आश्रय लिया जाए।

बाज़-बाज़ आलोचक एक ही समय अनेक कवियों के आलोचक थे। अतः प्रकाशकों ने उन्हें बाध्य किया कि वे उन सभी कवियों को अपने ऊपर लादें। ऐसे आलोचकों का कचूमर निकल गया। एक अध्ययन वाले एक नवीन आलोचक को सबसे अधिक भार वहन करना पड़ा।

इसी बीच कुछ कवियों को फिर भी छोटा पड़ता देखकर स्वयं निर्णायकों में कानाफूसी होने लगी। धीरे-धीरे कानाफूसी बहस की ऊंचाइयों तक पहुंच गयी। प्रतियोगियों ने यह दशा देखकर निर्णायकों को भी अपनी-अपनी ओर खींचना शुरू किया। खींचतान इतनी हुई कि निर्णायकों में से किसी के तीन या चार टुकड़े हो गये। उस नापने वाले आदमी के तो सैकड़ों टुकड़े हो गये। फिर भी लोगों ने सबको अपने-अपने स्तंभों के नीचे रखा।

इस तरह जब पूरा स्तंभ तैयार हो गया तो कोई देखनेवाला न रहा कि आख़िर सबसे बड़ा कौन है क्योंकि उन्हें आपस में लड़ते देखकर शुक्लजी वग़ैरह पहले ही चले गये। अब हर स्तम्भ अपने प्रतियोगी को बड़ा कहने लगा। नौबत हाथापाई की आ गयी। लोगों ने अपने-अपने शीर्षस्थ कवियों से पूछा कि बोलो, कौन बड़ा है? परंतु बार-बार पूछने पर भी कोई आवाज़ न आयी। चिढ़कर स्तंभ में खड़े आलोचकों ने कहा कि अगर नहीं बोलते तो तुम्ही नीचे आ जाओ और हम स्वयं ऊपर जाकर बताएंगे कि कौन बड़ा है?

क़हते-कहते स्तम्भ के आलोचकों ने कवियों को पटक-पटककर स्वयं ही उन पर चढ़ना शुरू किया। अब प्रश्न यह नहीं रहा कि कौन कवि बड़ा है, प्रश्न यह हो गया कि कौन आलोचक बड़ा है? अब कोई आलोचक किसी को कंधा देने के

लिए तैयार न हो, यहां तक कि नये-नये डॉक्टरों ने भी अपने गुरुओं को शीश पर रखने से इनकार कर दिया। फिर क्या था? ज़बर्दस्ती होने लगी। कोई उछलकर किसी के सिर चढ़ जाता और कोई किसी के सिर। अंत में फैसला न होते देख सभी लोग पारितोषिक के रुपयों की ओर दौड़े परंतु वहां पहुंचकर देखा गया कि उसे तो लेकर पहले ही कोई भाग गया था।

आलोचक-समुदाय अवाक् खड़ा-खड़ा रहा था कि 'माया मिली, न राम।' उधर हमारे कवि धूल में तड़प रहे हैं। परंतु उनकी फिकर किसको? धरती रौंदी जाकर काफ़ी धंस गयी थी चारों ओर गर्द छा गयी थी। उत्सुकतावश जनता की अपार भीड़ उमड़ी चली आ रही थी। कवियों की यह दशा देखकर उसने अपने हृदय की बाहें बढ़ाकर महाकवियों को उठाना शुरू किया। सबकी ज़बान पर केवल यही वाक्य था, तुम हमारे कवि हो, यही क्या कम है। कौन बड़ा है, हमें इससे मतलब नहीं।

आलोचक समुदाय भौंचक खड़ा देख रहा था। एक ने कहा, 'यही तो हम भी कहते थे।'

उसके बाद क्या हुआ यह तो मालूम नहीं परंतु अब जब कोई आलोचक किसी कवि पर क़लम उठाता है तो सुनते हैं, वह कवि दहल जाता है और आवाज़ आती है, हमें अनालोचित ही रहने दो।

जब मैंने सम्मेलन का यह काण्ड अपने एक प्रगतिशील समालोचक मित्र को सुनाया तो वह बोले, 'अवश्य ही यह भारी ग़लती है। यही तो प्रतिगामियों का स्वभाव है। कवियों की जांच ऊंचाई के अनुसार नहीं बल्कि चाल के अनुसार होनी चाहिए। अर्थात् मुख्य प्रश्न यह है कि कौन कवि सबसे तेज़ चलता है।'

मैंने कहा, 'ज़रूर-ज़रूर! वह तो होगा ही। होना ही चाहिए। और इसकी जांच के लिए हम लोग अभी से कवियों को दौड़ाने का अभ्यास करा रहे हैं।'

मैंने पूछा— 'परंतु कहीं ऐसा न हो कि कवि लोग इतना आगे दौड़ जाएं कि उनके साथ चलने वाला आलोचक पिछड़ जाए और निर्णय ही न हो पाए।'

वे बोले, 'ऐसे कैसे संभव है? साथ-साथ चलने वाला आलोचक यान में रहेगा। फिर मंज़िले मक़सूद पर यह सब देखने के लिए मार्क्स दादा तो खड़े ही हैं।'

बहुत दिनों के बाद सुना कि उस दौड़ के अभ्यास में मेरे वे प्रगतिशील आलोचक मित्र एक दिन मुंह के बल गिरे, फिर भी उत्साह ठंडा नहीं हुआ है। परंतु तब से कवियों पर मातम छा गया कि इस बार न जाने क्या होगा और जनता अपनी फसल की ओर देख रही है कि न जाने दौड़ किस जगह होगी?

कमलेश्वर

स्मारक

कमलेश्वर की व्यंग्य-प्रतिभा से मेरा परिचय 'जार्ज पंचम की नाक' को पढ़कर हुआ था। रचना में व्यंग्य की ताक़त को देखकर मुझे लगा कि ये लेखक केवल एक-आध व्यंग्य-रचना लिखकर संतुष्ट होने वाला नहीं है। अवश्य इसने कुछ अन्य व्यंग्य-रचनाएं भी अवश्य लिखी होंगी। व्यंग्य का मैं नया-नया मुल्ला बना था, खोज में जुट गया। मेरे हाथ कमलेश्वर का संग्रह 'ज़िंदा मुर्दे' आया। ये बात सन् 1972 की है। मेरे आश्चर्य का ठिकाना नहीं रहा। इस संकलन में कमलेश्वर एक अलग ही तेवर के साथ उपस्थित हैं। इलाहाबाद से दिल्ली आने पर कमलेश्वर तो बराबर घोषणा के स्वर में कहते हैं कि उनका मोह भंग हुआ है और 'राजा निरबंसिया' जैसी रचनाओं ने उनको अवसाद में डाल दिया है। ये युग राजा निरबंसिया का नहीं, व्यंग्य के तेवर का है। उनका 'असंतोष और आक्रोश और बढ़ गया था। वे लिखते हैं— मुझे लग रहा था कि जिस आस्था और ममता से मैं 'राजा निरबंसिया' की दुनिया में रह रहा था, वह व्यर्थ हो गयी थी। राजनीति सचमुच क्या होती है, भ्रष्ट राजतंत्र और नौकरशाही सत्ता द्वारा लगाए गये अप्रत्यक्ष प्रतिबंध और उन्हें घुटते-संघर्ष करते व्यक्ति की क्या हालत है— यह सब दिल्ली मे पहली बार बहुत गहराई से दिखाई दिया।' विसंगतियों के विरुद्ध इसी 'असंतोष और आक्रोश' के कारण कमलेश्वर व्यंग्य की आवश्यकता को अनुभव करते हैं और मानते हैं कि अपने समय और परिवेश को समझने की प्राथमिक दृष्टि व्यंग्य हो सकती है। वे लिखते हैं— इस संग्रह की कहानियां उस समय की हैं जब मैं इलाहबाद छोड़कर दिल्ली आया था और दिल्ली आते ही एक रचनात्मक शून्य में फंस गया था, क्योंकि तब तक लिखी कहानियों की भाषा, गति और फार्म आदि मेरे काम नहीं आ रहे थे। सच्चाइयां इतनी उलझी हुई लग रही थीं कि उनका छोर समझ नहीं आ रहा था, ऐसे में विडम्बना पर ही दृष्टि टिकती। अब मुझे लगता है कि अपने समय और परिवेश को समझने में प्राथमिक दृष्टि व्यंग्य ही हो सकती है।'

व्यंग्य में रुचि रखने वालों को यह संकलन अवश्य पढ़ना चाहिए। इसी संकलन में से एक रचना व्यंग्य यात्रा के पाठकों के लिए प्रस्तुत है। कमलेश्वर के जाने के बाद इस रचना को पढ़ना कुछ और अर्थ तलाशने जैसा हो सकता है।

—संपादक

'और तब तुम मेरी लाश को क़ब्र से निकालकर तमगे पिन्हाओगे। मुझे वहां भी आराम से सोने नहीं दोगे। तुमने मुझे ज़िंदगीभर परेशान किया। मैं अपने बच्चों

के पेट की ख़ातिर एक-एक टुकड़े के लिए मारा-मारा फिरता रहा। जब मैंने सच्ची बात कही तब तुमने मुझे जेल के सीकचों के भीतर ढकेल दिया। मुझ पर मुक़दमे चलाए और मेरा जीना मुश्किल कर दिया। और मेरी मौत की ख़बर पाकर तुम तक़रीरें करोगे...घड़ियाल के आंसू बहाओगे। और मेरी यादगारें खड़ी करने की बातें करोगे ...लेकिन मैं तुम्हें जानता हूं...तुम मेरे चैन से सोए हुए दिल में बेइज़्ज़ती का एक खंज़र और मारोगे...'

ये उस महान लेखक की किताब की भूमिका के अंतिम वाक्य थे, जिन्हें सलीम साहब ने अभी-अभी डबडबायी हुई आंखों से पढ़कर सुनाया था। सब लोगों के दिल भर आए थे, पलकें झुकी और गर्दन लटकी हुई थीं। उसके ये वाक्य कमरे की बंधी हुई फिज़ा में ठहरे हुए धुएं की तरह लटक रहे थे और लोगों के अभी तक चमकते हुए चेहरे ऐसे धूमिल पड़ गये, जैसे किसी ने रोशनी का रुख़ बदल दिया हो। कई मिनटों तक सन्नाटा छाया रहा।

अगर नौकर ने ऐन इसी वक़्त पान-सिगरेट की ट्रे हाज़िर कर दी होती, तो सभी उफनते हुए, बुत की तरह बैठे रहते। लोगों ने बड़ी शांति से मातमी ढंग पर पान खा लिए या सिगरेटें सुलगा लीं और तब अध्यक्ष महोदय ने कहा, 'अब मैं चन्द्रभानजी से प्रार्थना करूंगा कि वे दो शब्द कहें। चन्द्रभानजी का यह सौभाग्य रहा है कि वे लगातार तीन बरस तक उनके साथ रहे हैं और आपने बहुत नज़दीक से उन्हें जाना-पहचाना है...चन्द्रभानजी... ।'

चन्द्रभानजी ने शुरू किया, 'सबसे पहले मैं उस महान आत्मा, उस महान साहित्यिक को अपना श्रद्धापूर्ण प्रणाम अर्पित करता हूं!' इतना कहकर वे एकाएक चुप हो गये, उनके चेहरे पर दर्द की लकीरें परछाईं की तरह कांप रही थीं, एक क्षण जैसे चन्द्रभानजी ने उस दिवंगत आत्मा का स्मरण किया हो, फिर बोलना शुरू किया, 'यह मेरा सौभाग्य था कि मैं उनके साथ एक लंबी अवधि तक रहा और उन्हें हर तरह से देखने का मुझे मौक़ा मिला। वे बड़े ही निश्छल और सरल व्यक्ति थे। उन्होंने मुसीबतों में कभी हिम्मत नहीं हारी। उन्होंने अपने दिन निपट निर्धनता में बिताए और आख़िरी समय तक वे अपनी मजबूरियों और परिस्थितियों से लड़ते रहे। जिस समय उनकी पत्नी का देहांत हुआ था, मैं वहीं था। फ़ाक़ेमस्ती की यह हालत थी कि उस समय उनके पास क़फ़न तक के लिए कपड़ा न था। उधार देनेवाले उनके नाम से कतराते थे। उनकी ज़िंदगी में ऐसे दिन तक आए जब घर में चूल्हा तक नहीं जला। मैं उन्हें अपने घर ख़ाने के लिए बुला-बुलाकर लाता था। ख़ाना खाकर वे चुपचाप बैठे रहते थे। और एक भी शब्द कहे बग़ैर उठ जाया करते थे। मैंने उनका

थोड़ा-बहुत कर्ज़ चुकाया तब बनिये की दुकान से उन्हें राशन मिलना शुरू हुआ। यह हमारी भाषा का दुर्भाग्य है कि उनके जैसे लाड़ले सपूत इस तरह भूखों मरें... उनकी बीवी के अंतिम संस्कार के लिए जब हमने चन्दे से रुपया जमा करना चाहा, तो उन्हें यह बर्दाश्त न हुआ। उसी दिन उन्होंने अपने एक उपन्यास की पांडुलिपि का कापीराइट बेचा और पत्नी का अंतिम संस्कार पूर्ण किया...मुझे वह दिन याद है...आज भी वे सब दृश्य मेरी आंखों के सामने नाच रहे हैं...मैं देख रहा हूं कि पत्नी की लाश घर में पड़ी है और वे 'कापीराइट एग्रीमेंट' पर हस्ताक्षर कर रहे हैं। ऐसा था उनका गर्व। मैं उनके गर्व को नमन करता हूं और अपने युग के महानतम साहित्यकार को श्रद्धांजलि अर्पित करता हूं...' कहते-कहते चन्द्रभानजी का गला भर आया था और वे आंखों पर रुमाल रखकर अपनी जगह बैठ गये।

जिस प्रकाशक की कोठी पर यह शोकसभा हो रही थी, वे स्वयं बहुत दबे-दबे निहायत निरीह सूरत बनाए चोबदार की तरह बैठे थे। अध्यक्ष की नज़र उन पर पड़ी, तो धीरे-से बोले, 'बिहारी बाबू इधर निकल आइये...।' और अपनी बगल में सोफे पर उनके लिए जगह ख़ाली कर ली। बिहारी बाबू बड़े संकोच से क़दम रखते हुए इस तरह आए जैसे पास वाले कमरे में सोई पड़ी उस महान आत्मा की नींद में ख़लल न पड़ जाए। उनके हाथ-पैर ढीले थे और रह-रहकर अपनी सुनहरी कमानी वाले चश्मे को भौंहों से चिपकाकर सामने दीवार पर लगी उस फोटो को ताक़ लेते थे, जिसमें उस महान लेखक के साथ उनका और उनके परिवार का चित्र था।

इस अंतराल के बाद उस लेखक की मौत फिर भारी पड़ने लगी। जो स्वच्छंदता अभी लोगों के व्यवहार में आ गयी थी, वह गंभीरता में बदल गयी और अध्यक्ष महोदय के इशारे से एक खद्दरधारी सज्जन उठकर खड़े हुए, 'माननीय अध्यक्ष महोदय और साथियो, मैं इसे अपना अहोभाग्य मानता हूं कि मैं आज इस मीटिंग में उपस्थित हो सका। हम अपने युग के सर्वश्रेष्ठ लेखक से अभी बहुत दूर नहीं गये हैं। वे आने वाले ज़माने में भी ज़िंदा रहेंगे और एक लाइट-हाउस की तरह हर भटकते हुए जहाज़ को रास्ता दिखाएंगे...मुझे वे दिन याद आते हैं जब यहां वे मेरे साथ कॉलेज में पढ़ते थे...' खद्दरधारी सज्जन ने इतने आत्मविश्वास से यह बात कही थी कि एक सज्जन प्रतिवाद कर बैठे, 'उन्होंने शिक्षा नागपुर में पाई थी, यहां तो वे चार साल पहले आए थे।'

अध्यक्ष ने आंख के इशारे से प्रतिवादी को मना करना चाहा...खद्दरधारी सज्जन का मुंह तमतमा आया था. अपने मुंह के कोनों में बह आए पान को पोंछते हुए वे ज़रा सख़्ती से बोले, 'यह निहायत अफ़सोस की बात है कि आज का पढ़ा-लिखा

और साहित्यकार कहा जानेवाला आदमी एक बात के असली अर्थ को न समझ पाए!' और उन्होंने बड़ी सफ़ाई से अपनी बात संभाली, गोर्की ने 'माई यूनिवर्सिटीज़' लिखा है, तो इसका मतलब यह नहीं कि वे विश्वविद्यालयों में पढ़े थे। जीवन की पाठशालाएं सबसे बड़े कॉलेज हैं, जिनसे लेखक, कवि और नाटककार अपने अनुभव प्राप्त करता है। वह समाज का अग्रदूत है... ।' खद्दरधारी सज्जन जोश में आ गये थे, सुपाड़ी का कोई टुकड़ा गले में अटककर ख़राश पैदा कर रहा था, मेज पर रखा गिलास उठाकर उन्होंने पानी पिया और बोलने लगे, 'साहित्य एक साधना है, वह एक व्रत है और साहित्यकार एक महान साधक। साहित्य समाज का दर्पण होता है। जैसा समाज होगा, वैसा ही साहित्य होगा।' उनके हाथ हवा में दर्पण का नक्शा बनाते हुए उंगलियों से कोई बड़ा-सा बोल्ट खोलकर समाज का रूप सामने लाना चाहते थे, 'हमारी परम्परा वाल्मीकि, भवभूति, कालिदास और तुलसी की है। वे अपने युग के महान स्रष्टा थे... वे भविष्य-द्रष्टा थे। यह हमारे युग का दुर्भाग्य है कि हम अभी तक उन जैसा एक भी कवि पैदा नहीं कर सके। क्योंकि साहित्य सत्यं, शिवम्, सुंदरम् का मूलमंत्र हमें देता है। हमारे ऋषियों ने कहा है– 'जो शिव है, जो सुंदर है, वही सत्य है। साहित्य से चूंकि यह भावना उठ गयी है इसीलिए हम पिछड़ गये हैं। हम नहीं जानते कि रहस्यवाद क्या है? इसका कारण सिर्फ़ यह है कि हमारा लेखक साधना से घबराता है। और जब तक लेखक अपने इस दायित्व को नहीं समझेगा, समाज आगे नहीं बढ़ेगा। आज विदेशों में हमारे देश की जो इज़्ज़त है उसका मुख्य कारण है, हमारी शांतिप्रिय विदेश नीति। हमने देश-विदेश में अपनी आवाज़ पहुंचायी है। सम्मान प्राप्त किया है...सत्य के आधार पर। यही सत्य साहित्य का आधार है। वह मानवतावाद हो, छायावाद हो, रहस्यवाद हो, इन्क़लाब हो, ज़िंदाबाद हो—सबमें सत्य समाया है। आज के लेखकों और कवियों से मेरा नम्र निवेदन है कि वे इसी सत्य को पहले प्राप्त करें और देश के निर्माण में अपना हक़ अदा करें। बस, मुझे इतना ही कहना है।' और वे उसी जोश में अपनी जगह पर बैठ गये।

शोकसभा में आए हुए सभी लोगों के चेहरे फ़क थे। अध्यक्ष भी थोड़ा सकते में आ गये थे। हवा एकदम बदल गयी थी। अपने सूखे हुए होंठों को तर करते हुए अध्यक्ष ने कहा, 'अभी हमारे नगर के तपस्वी नेता श्री जितेन्द्रजी ने आपके सामने अपने विचार रखे, हमें चाहिए कि हम उनका मनन करें। अपने महानतम लेखक के प्रति हमारी यही सच्ची श्रद्धांजलि होगी...अब मैं श्री बिहारी बाबू से करबद्ध प्रार्थना करूंगा कि वे संक्षेप में कुछ कहें।' कहकर अध्यक्ष ने अपनी घड़ी पर निगाह डाली।

बिहारी बाबू ने अपने कुरते की आस्तीनें हाथ तक सरका लीं और बड़े दुःखपूर्ण स्वरमें बोले, 'यह समय मेरे बोलने का नहीं है। साहित्य के दिग्गजों के सामने मुझे बोलते संकोच होता है। आज हम जिस महान आत्मा की शोकसभा के लिए यहां एकत्रित हुए हैं वे मेरे अपने थे। वे मेरे परिवार के अंग थे। आज मैं अकेला रह गया। यह हमारी भाषा के एक समर्थ महारथी का ही निधन नहीं, मेरी व्यक्तिगत क्षति है। आज से चार साल पहले वे मुझे एक साहित्य-सभा में मिले थे। तब वे बहुत कष्ट में थे। आपकी दया से मैं इस योग्य था कि उनकी कुछ सहायता कर सकूं। मैंने उनसे प्रार्थना की कि वे इस नगर में आकर इसे कृतार्थ करें। मैंने उनसे बहुत आग्रह किया कि वे मेरे घर को ही पवित्र करें, पर वे लिखने के लिए एकांत चाहते थे। मैंने अपना एक मकान इसलिए ख़ाली करवा दिया। मैंने उनसे किराया भी नहीं लिया। और यह मेरा सौभाग्य था कि वे आजन्म मेरी सेवा स्वीकार करते रहे, अपना स्नेह मुझे देते रहे और मेरे परिवार के एक अंग बन गये...मेरा दिल इतना भरा हुआ है कि इस अवसर पर कुछ भी कह सकना कठिन होता जा रहा है। मैंने उनकी समस्त पुस्तकों को एक जगह से प्रकाशित करने का बीड़ा उठाया है, जिससे सारे साहित्य के इस श्रेष्ठ स्रष्टा की समस्त कृतियां पाठकों को सुविधापूर्वक सुलभ हो सकें। हमने जनसाधारण को दृष्टि में रखकर उनकी कृतियों का मूल्य बहुत कम रखने की कोशिश की है, ताकि उनका प्रचार घर-घर हो सके और हमारे इस मेधावी लेखक के विचार चारों ओर फैल सकें।

'मेरी यही कामना है कि वे जो कुछ जीवनपर्यन्त सोचते रहे वह अधिक से अधिक लोगों तक पहुंचे, जो कुछ उन्होंने लिखा वह हमारे साहित्य की अमर निधि है। मैं अपने मित्र, अपने अग्रज और सरस्वती के वरद् पुत्र को अपनी तुच्छ श्रद्धांजलि अर्पित करता हूं।'

उनके बैठते ही प्रसिद्ध कथाकार भुवनेशजी अपने आप खड़े होकर बोलने लगे, 'मित्रो! मैं भी आपसे दो-चार शब्द कहना चाहता हूं। मैं आपका अधिक समय न लेकर अपनी बात संक्षेप में कहूंगा...आज से तीस साल पहले की बात है, जब मैंने लिखना शुरू किया था और तब से निरंतर साहित्य की सेवा करता आ रहा हूं। मैंने अब तक सरस्वती की साधना करके लगभग पचहत्तर से ऊपर गद्य-कृतियों का प्रणयन किया है, ख़ैर, इसे छोड़िए...आज हम अपने साहित्य के सुप्रसिद्ध प्रगतिशील लेखक के निधन के उपलक्ष में यहां एकत्रित हुए हैं...वे मेरे साथी थे। हम लोगों ने लगभग एक साथ लिखना शुरू किया था। मैंने कुछ पहले शुरू किया था। मुझे अच्छी तरह याद है, जब वे अपनी पहली कहानी लिखकर मेरे पास लाए थे। उस समय तक मैं साहित्य के क्षेत्र में प्रवेश कर चुका था, मेरी रचनाएं प्रतिष्ठित

पत्र-पत्रिकाओं में आदरपूर्ण स्थान पाने लगी थीं। मैंने उनकी प्रथम कहानी की बड़ी कटु आलोचना की थी। हम फिर भी अच्छे मित्रों की तरह मिलते रहे और एक-दूसरे को अपनी रचनाएं सुनाते रहे।

'सच पूछिए, तो वे मेरे बड़े निकटतम मित्रों में थे। आज जो आप मुझे इस रूप में देख रहे हैं, यह दर्जा मुझे यों ही प्राप्त नहीं हुआ। मेरे पिताजी को कविता से शौक़ था और जब छोटी उम्र में मैंने पहली बार एक कविता लिखी, तो मेरे पिताजी ने मुझे बहुत बढ़ावा दिया और धीरे-धीरे वे मुझे अपने साथ छोटे-छोटे कवि सम्मेलनों में ले जाने लगे। मेरे पाठकों के बीच यह झगड़ा है कि मैं मुख्यतः उपन्यासकार हूं, कवि हूं, कहानीकार हूं, या आलोचक। मित्रो, मैंने कविता से प्रारंभ किया इसलिए मैं अपने को मुख्यतया कवि ही मानता हूं और उसी में मेरे दिल की भावनाएं अपने पंख पसारती हैं। बहरहाल इसे छोड़िए, आज हमारी भाषा एक ऐसे पद पर है कि हमें उसके सम्मान की रक्षा के लिए बड़े-बड़े काम करने हैं। वे अपना काम पूरा कर गये। यह एक बड़ी दिलचस्प बात है कि साहित्यिक समस्याओं और बातों को लेकर हममें-उनमें बहुत झगड़े हुए। ऐसे अवसरों पर अधिकतर वे हार जाते थे और अगली बार के लिए तैयार होकर आते थे। जब वे मेरे साथ थे तब मैंने अपना प्रथम उपन्यास 'भीगा आंचल लहराए रे' लिखा था।' भुवनेशजी ने धीरे-से मुस्कराकर आगे कहा, 'कविता मेरे ऊपर कितनी हावी थी, इसका आभास आपको इस शीर्षक से हो गया होगा...इसके बाद मैं भावुकता और कल्पना की दुनिया से निकल आया। मैंने यथार्थ की ठोस धरती पर चरण रखे, यह मेरा नया मोड़ था, इस काल में मैंने 'पत्थर की दीवार' और 'बुलबले' नामक दो उपन्यास लिखे। इन्हें आलोचकों ने ख़ूब सराहा। इसके बाद मैंने सत्रह कहानी-संग्रह और दस कविता-संग्रह तथा तीन खण्डकाव्य लिखे, यह सूची आप कहीं भी देख सकते हैं। अब मैं एक नयी किताब लिखने जा रहा हूं, जिसमें मेरे साहित्यिक साथियों के संस्मरण होंगे और मैं अपनी सच्ची श्रद्धांजलि उन्हें इसी रूप में प्रस्तुत करूंगा। अब मैं आपसे आज्ञा चाहता हूं, नमस्कार।'

और नमस्कार की नाटकीय मुद्रा में ही वे अपनी जगह बैठ गये। सामने बैठे हुए मूक श्रोताओं में एक साहब ढीली गद्दी की तरह बार-बार उचक रहे थे, खड़े होकर उन्होंने अध्यक्ष से एक मिनट का समय मांगा। आज्ञा मिलते ही उन्होंने कहा, 'अभी हमारे कथाकार महोदय भुवनेशजी ने दिवंगत लेखक को प्रगतिशील के विशेषण से अभिहित किया, मैं इसका विरोध करता हूं। वे सच्चे मानवतावादी थे, मैंने उनके साहित्य की एक-एक पंक्ति पढ़ी है और मैं इस गंभीर आक्षेप के लिए बहस करने को तैयार हूं। क्या अपनी स्थापना के संबंध में वे प्रमाण प्रस्तुत कर सकते हैं?' और

वे सज्जन ललकारने की मुद्रा में अपनी जगह पर खड़े रहे। अध्यक्ष ने घड़ी पर निगाह डालकर कहा, 'भाइयो, हम लोग यहां साहित्यिक समस्याओं के समाधान के लिए नहीं वरन् एक शोकसभा के लिए एकत्रित हुए हैं, अतः इन बातों का निपटारा बाद में होता रहेगा। आप कृपा करके बैठ जाइए।' उन खड़े हुए सज्जन के बैठते ही अध्यक्ष ने कहा, 'आपके सामने बहुत-से लोग बोल चुके हैं और अब कुछ भी कहने को शेष नहीं है। यह अवसर भी ऐसा नहीं, इसलिए मैं एक प्रस्ताव आपके सामने रखता हूं और एक मिनट मौन की प्रार्थना करूंगा और उसके बाद एक बात और सामने रखूंगा।'

एक मिनट मौन के बाद दुःखी साहित्यकों का प्रस्ताव आया, उसकी स्वीकृति के बाद अध्यक्ष महोदय बोले, 'हमारे यहां मृत को पूजने की परिपाटी है। पता नहीं, हम जीवित व्यक्तियों का सम्मान करना कब सीखेंगे। ख़ैर, यह समस्या आगे की है, इस समय मेरा प्रस्ताव है कि हम उनके लिए स्मारक की स्थापना करें। यहीं अपने नगर में, ताकि आने वाली पीढ़ियां जान सकें कि उन्होंने अपने अंतिम दिन इसी पुण्य नगरी में बिताए थे। विदेशों में बड़ी ही स्वस्थ परम्परा है, वे अपने साहित्यिकों का सम्मान करना जानते हैं। हम भी इस ओर क़दम बढ़ाएं, तो बंधुओ, मेरा प्रस्ताव है कि एक स्मारक ऐसा हो, जहां उनकी समस्त कृतियां, उन पर लिखी गयी आलोचनाएं और उनकी पांडुलिपियां तथा उनका अन्य सामान आदि सुरक्षित रूप से रखा जा सके।'

'मैं इस प्रस्ताव का अनुमोदन करता हूं।' चन्द्रभानजी ने कहा, 'मैं उनसे अंतिम दिनों में मिला था, तब उनके चेहरे पर बड़ी घोर निराशा छाई थी और उन्होंने बड़े दर्द से मुझसे पूछा था, 'क्यों चन्द्रभान! मैंने क्या ऐसा कुछ भी लिखा है जो मेरे मरने के बाद जीवित रह जाएगा?' मैंने उन्हें कभी इतना निराश नहीं देखा था। मेरी आंखें भर आयी थीं और मैंने उनसे कहा था, 'भाई साहब, आप हमारे साहित्य के युग-निर्माता हैं। यह ठीक है आपके जीवनकाल में हम लोग आपके लिए अभी तक कुछ नहीं कर पाए, पर आने वाली सन्तति आपका मूल्य पहचानेगी और आपको वह सम्मान देगी जो आज तक किसी को नहीं मिला। यह आपका प्राप्य है, जो अभी तक आपको नहीं मिला।' सुनते-सुनते उनकी आंखें भर आयी थीं। बिहारी बाबू उस समय वहीं थे, और बिहारी बाबू ने जिस समय उनसे कहा था– आपके स्मारक बनेंगे। नये लेखक वहां बैठ-बैठकर लिखना सीखेंगे। तो उनकी आंखों में आंसू ढरक पड़े थे, जैसे वे विश्वास न कर रहे हों। उन्हें अपनी महत्ता का कभी ज्ञान नहीं हुआ।

'उसी दिन बिहारी बाबू ने लौटते वक़्त एक बात सुझायी थी क्यों न इनका स्मारक हम लोग यहीं बनवाएं...आख़िर हमारे नगर का अब उन पर पूरा अधिकार